।। श्रीहरिः ।।

131

सुखी जीवन

GITA PRESS, GORAKHPUR

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

सुखी जीवन

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

श्रीमैत्री देवी

ॐ

कृतज्ञता-प्रकाश

सर्वशक्तिमान् , सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, आनन्दमय भगवान् राम! आपके पतितपावन चरणकमलोंमें कोटिशः प्रणाम है! आपकी ही अनुपम कृपासे मुझ अबलाको 'सुखी जीवन' की माला गूँथनेकी प्रेरणा प्राप्त हुई।

श्रीमान् हनुमानप्रसादजी पोद्दार सम्पादक 'कल्याण' की मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इसकी भूलें सुधारकर समय-समयपर इसके लेख अपने मासिक पत्र 'कल्याण' में प्रकाशित किये।

सभी सहृदय भाई तथा बहिनोंका हृदयसे धन्यवाद करती हूँ, जिन्होंने निःस्वार्थभावसे प्रेमपूर्वक मेरी सहायता की।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

❑❑

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ-संख्या**

❑❑

॥ श्रीहरिः ॥

निवेदन

बचपनमें ही मैं सुख और आनन्दकी खोजमें निकली थी, परंतु बचपन समाप्त हुआ और युवावस्था भी बीतनेको आयी; तो भी सच्चा सुख न मिला। आखिर निराश हो मैं एक वृक्षके नीचे जा बैठी। उस समय वहाँ एक देवी आयीं और मुझे चिन्तातुर देख प्रेमभरी दृष्टिसे मुसकराती हुई मधुर वचन बोलीं।

देवी—'यहाँ निराश होकर मन मारे क्यों बैठी हो? तुम्हारा कुछ खो गया है? बताओ, तुम क्या ढूँढ़ रही हो?'

मैं—'सुख ढूँढ़ रही हूँ।'

देवी—'क्या कहा? सुख ढूँढ़ रही हो? सुख-स्वरूप तो तुम स्वयं ही हो। इतना ही नहीं, सुख—आनन्दसे तो यह सारा संसार ही परिपूर्ण है।'

मैं—'परंतु मुझे तो सुख इस संसारमें कहीं भी प्रतीत नहीं होता।'

तब उन दयामयी देवीने स्नेहभरे शब्दोंमें कहा, 'ठीक है। जब तुम्हारी यह आँखोंपरकी ऐनक, गलेकी कण्ठी और हाथोंके कंगन टूट जायँगे, तब तुम्हें आनन्द प्रतीत होगा। उठो! चलो! मैं तुम्हें सत्संगरूपी वाटिकामें ले चलती हूँ। तुम वहाँसे 'सुखी जीवन' के फूल चुनकर माला गूँथ लेना। इससे तुम सुखी हो जाओगी। आओ, मेरे साथ चलो।'

उस देवीके साथ मैं सत्संग-वाटिकामें पहुँची। वहाँ वेद, शास्त्र और अनेक सद्ग्रन्थरूपी सुन्दर वृक्षोंके सुगन्धित पुष्पोंको देखा और उन्हींमेंसे कुछ फूल चुनकर माला गूँथने लगी।

इस समय भान हुआ—अवश्य ही लोभ-दम्भकी ऐनक फूटेगी, ईर्ष्या-तृष्णाकी कण्ठी टूटेगी और राग-द्वेषके कंगन नष्ट होंगे। माला तैयार होने लगी और 'मैं आनन्द हूँ', 'मैं ही सुख हूँ', 'यह सारा संसार प्रेमका स्रोत, आनन्दका भण्डार ही है'—ऐसा प्रतीत होने लगा।

बहिनो! भाइयो! तथा प्यारे पुत्रो और पुत्रियो! यदि 'सुखी जीवन' चाहती हो तो लो सत्-शास्त्रोंके अनेक फूलोंसे गूँथी हुई इस मालाको श्रद्धासहित धारण करो।

॥ हरिः ॐ तत्सत्, हरिः ॐ तत्सत्, हरिः ॐ तत्सत्॥

—मैत्रीदेवी

❑ ❑

॥ श्रीहरिः ॥

सुखी जीवन

सुखकी खोज

सुमति हर समय उदास रहा करती थी। किसी काममें उसका मन नहीं लगता था। न किसीसे अधिक बात करती और न दूसरोंकी बातें सुनना चाहती। बस, उसे रात-दिन रोते रहना ही सुहाता था।

सुमतिके पिता बड़े बुद्धिमान्, विचारशील और धर्मात्मा पुरुष थे। उन्होंने सुमतिका दिल बहलाये रखनेके लिये सारे गृहकार्य उसे ही सौंप दिये थे। बच्चोंकी देख-रेख, लड़कियोंको कसीदा सिखाना और रसोई बनाना इत्यादि सब काम वे सुमतिसे या उसकी देख-रेखमें ही करवाते थे। सुमति भी बड़ी सुशील और विचारशील थी। वह अपना धर्म समझकर सब कार्योंको ठीक-ठीक निभाती। गाँवके स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े सभी सुमतिकी बड़ाई करते थे। कहा करते 'सुमति बड़ी अच्छी लड़की है, सब काम बड़ी होशियारीसे करती है।' कोई कहता, 'रसोई बहुत स्वादिष्ट बनाती है।' कोई कहता,'इसका कसीदा तो देखने ही योग्य होता है।'

सुमति भी सबको खुश रखनेका ही यत्न करती थी। वह अपने मानसिक दुःखको हृदयमें छिपाये रखती। जिस समय फुरसत पाती एकान्तमें धरतीपर लेटकर आँचलसे अपना मुँह ढककर रोने लगती। सुमति इस बातका बहुत ध्यान रखती थी कि उसे कोई रोती न देख ले, परन्तु उसकी भर्रायी आँखें नहीं छिपतीं, उसे उदास-उदास देखकर बुआ, दादी, भाभी आदि

सभीकी आँखोंमें आँसू आ जाते। जब सुमति अपने दुःखसे दूसरोंको दुःखी देखती तो सोचने लगती—'ऐसे जीवनसे क्या लाभ. जो अपने दुःखसे दूसरोंको भी दुःखी करे? धिक्कार है ऐसे जीवनको! मैं पृथ्वीका भार हो रही हूँ! हाय! इस संसारमें सुख कहाँ है? मुझे तो संसार सूना और दुःखरूप ही जान पड़ता है। इस दुःखभरे जीवनसे क्या लाभ? इस प्रकार जीवित रहनेका क्या प्रयोजन? हे मृत्यु! आ, शीघ्र मुझे अपनी गोदमें सुला ले! मैं एक क्षण भी जीना नहीं चाहती। मैं अब नाममात्रका भोजन करूँगी। रोग होनेपर दवा नहीं लूँगी, तब तो तू मुझे अपनायेगी ही।' इस तरह सुमति मन-ही-मन विलाप करती रहती।

सुमतिको इस प्रकार बराबर दुःखी देखकर एक दिन उसके पिताजी उसे इस प्रकार समझाने लगे।

'बेटा! तुम किसके लिये शोक करती हो? यह संसार असार और नाशवान् है। यहाँ सब कुछ क्षणभरका है। जो कुछ देखती हो, सभी नाश होनेवाला है। पंचभूतोंसे बना यह शरीर बनता और बिगड़ता रहता है, परंतु आत्मा सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, क्योंकि वह अमर है, अविनाशी है। इस देहका नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता है। संसारमें जितने भी सम्बन्धी हैं, उन्हें तुम ऋणका बन्धन ही समझो। अपने-अपने ऋण चुकाकर सब अपने-अपने मार्गसे चले जाते हैं। न कोई किसीके साथ आता है; न कोई किसीके साथ जाता है। क्यों बेटी! नन्नीके जन्मका तुम्हें याद है न?'

सुमति—'जी, हाँ पिताजी!'

पिता—'बेटी! बताओ, जब वह जन्मी थी, उसके साथ कौन आया था? कोई भी नहीं। उसने माता-पिता, भाई-बहिन सब यहीं मान लिये थे। जब उसका विवाह हो गया, तब उधरवालोंको सास, ससुर, पति, देवर आदि मान लिया। विचार

सुमति! जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उसे तुम अजर-अमर जानो। उस तत्त्वका कोई किसी प्रकार भी नाश नहीं कर सकता। शरीरमें रहनेवाला वह आत्मा अचल है, नित्य है, सनातन है, सर्वव्यापक है और अविनाशी है। किन्तु जिसमें वह रहता है, वह देह नाशवान् है। अब तुम देहका मोह छोड़कर उस परम तत्त्वकी खोज करो।

भगवान् सच्चिदानन्द आनन्दकन्द सुखधाम हैं। वे प्रभु घट-घटमें रहनेवाले और हृदयकी आवाजको सुननेवाले हैं। तुम उन्हीं हृदय-निवासी भगवान्से प्रार्थना किया करो। वे सबकी सुनते हैं। वे तुम्हारे मोह और अज्ञानके परदेको हटाकर तुम्हें अपना दिव्य दर्शन देंगे।

बेटी! यदि तुम सुखी जीवन चाहती हो तो देहसम्बन्धी ममता, मोह और इच्छाको छोड़ो। यह ममता और इच्छा ही दुःखका मूल है। जबतक कोई भी सांसारिक ममता या इच्छा रहती है, तबतक मनुष्य कदापि सुखी नहीं हो सकता।

हर समय श्रीराम-नामका जप किया करो। बस, इस मोहको छोड़कर सच्चे सुखकी खोज करो। श्रीभगवान्की शरण ग्रहण करो। हाथ जोड़कर निश्चय और प्रेमपूर्वक कहो, 'प्रभो! मैं तुम्हारी हूँ।' बेटी! उनका यह नियम है और शास्त्रोंमें भी लिखा है कि 'जो सच्चे दिलसे उनसे कहता है कि 'मैं तेरा हूँ' उसे वे उसी समय अपना लेते हैं और इस घोर संसार--समुद्रसे तुरन्त पार कर देते हैं।' सच्चे हृदयसे पुकारते ही तुम उनके आनेकी आहट सुनोगी।

'सुमति! तुम विचारकर देखो, इस संसारमें कोई किसीका नहीं है। मोहके कारण ही दुनियाभरसे मनुष्य नाता जोड़ लेता है। सबसे मोह हटाओ और केवल प्रभुचरणोंमें और उनके पवित्र श्रीराम-नामके जपमें अपनी मनोवृत्ति जमाओ। तुम्हारा जीवन सुखमय होगा, अवश्यमेव होगा।

जाओ बेटी! अब सो रहो, बहुत रात हो गयी है।'

सुमति उठी और सीधे पूजागृहमें पहुँची। वह विष्णुभगवान्‌की मूर्तिके सामने हाथ जोड़कर बैठ गयी और बड़ी ही करुणाके साथ प्रार्थना करने लगी—

'प्रभो! मैं अनाथ, अशरण, निराधार, असहाय, अबला आपकी शरण हूँ। हे दयालो! हे दीनबन्धो! हे दयानिधे! दया करो! दया करो! मुझे इस दुःखके अथाह समुद्रसे निकालनेवाले केवल आप ही हो। कोई कैसा ही पापी, पतित या नीच क्यों न हो, शरण आ जानेपर आप उसे उसी क्षण दुःखसे छुड़ा देते हो, हे नाथ! मैं आपकी शरण हूँ, मेरी रक्षा करो! रक्षा करो।'

फिर वह रो-रोकर भगवान्‌से पुनः कातर स्वरमें प्रार्थना करने लगी—

'प्रभो! मेरी यह जीवन-नैया जर्जर हो रही है। फिर भी विषयासक्तिके कारण मन विषय-सुखोंके लिये ही ललचा करता है। सुख-भोगकी इन प्रबल कामनाओंको चित्तसे कैसे हटाऊँ नाथ! जैसे भँवरमें पड़ी हुई नैया डूबने लगती है, वैसे ही यह लोभ-मोहरूपी भँवर मुझे डुबाना चाहते हैं। हे प्रभो! इन काम, क्रोध, लोभ, मोहसे मेरी रक्षा कीजिये, मुझे बचाइये। सिवा आपके मेरी पुकार सुननेवाला और कौन है? हे नाथ! मैं अबला आपकी शरण हूँ।'

सुमति इस प्रकार प्रार्थना करती थी और रोती भी जाती थी। फिर वह पूजागृहसे उठी और अपने बिस्तरपर लेटकर इस प्रकार विचार करने लगी—'इस संसारमें तो मैं अकेली ही आयी थी। यहाँके सब सम्बन्धी यहीं बनते और यहीं मिट जाते हैं। मुझे उन बनने और मिटनेवाली वस्तुओंसे क्या लेना है?' इस प्रकार दिलको ढाढ़स देने लगी। कुछ ही देरमें फिर रोने लगी और मन-ही-मन बोली—'उस दिन पिताजी कहते थे, आत्माको

दुःख नहीं होता, न उसे गरमी-सरदी सताती है और न कोई अन्य विकार छू सकते हैं। वह निर्लेप, निर्विकार और सच्चिदानन्दस्वरूप है। उस आत्माका न जन्म है और न मृत्यु है। ऐसा आत्मा मैं स्वयं हूँ। अहा। मैं अपने ऐसे सुखस्वरूप आत्माका कब अनुभव करूँगी? यह तो बिलकुल ठीक है कि संसारमें सब अकेले आते हैं। न अपने साथ धन-दौलत लाते हैं, न कोई साथी और जब जाते हैं तब भी यहाँकी सब चीजें यहीं छोड़कर खाली हाथ ही जाते हैं। परंतु मोह तो नहीं छूटता। प्रभो! यह कैसा मोह-जाल है। मैं कैसे इस मोह-जालसे निकलूँगी? मैं यह जानती हूँ कि जो जनमा है, वह जरूर मरेगा। संसार नाशवान् है। संसारी प्रेम प्रेम नहीं, केवल मोह है, स्वार्थ है, किंतु यह मन बार-बार उन्हीं वस्तुओंको पानके लिये क्यों लालायित है। हाय! मायाने मुझे कैसा भुला रखा है। प्रभो! इस माया-जालको हटा लो। मैं इस संसारी मोहको भूल जाऊँ। दीनानाथ! मैं बहुत दुःखी हूँ, दयाकर मुझे फिर मेरे सत्य-स्वरूपका ज्ञान करा दो। मुझे अपनाओ!'

सुमति रोते-रोते फिर इस प्रकार प्रार्थना करने लगी—

भगवन्! अपनी मायाका दृश्य हटा देना।
अपनी छटाका मुझको सुप्रकाश दिखा देना॥ टेक॥
अज्ञानसे अँधेरा छाया जो मेरे मनपर।
अपनी कृपासे भगवन्! उसे दूर हटा देना॥ १ ॥
माया यह आपकी है सबको लुभा रही।
करके कृपा कृपामय! मुझे इससे बचा लेना॥ २ ॥
कबतक जगत्‌में भगवन्! मैं यों पड़ी रहूँगी।
अपराध भूलकर सब मुझे पार लगा देना॥ ३ ॥

शान्ति-सुमति-संवाद

जब सुमति रोते-रोते गाने लगती तो उसके आँसू हृदयपर गिरकर मानो हृदयकी तपनको बुझाने लगते। इसी तरह विचार करते-करते वह सो जाती। जब उठती तब फिर विचारती और फिर रोने लगती।

एक दिन सुमति रो रही थी। इसी समय शान्तिदेवी उसके पास आयीं और बोलीं—'बहिन सुमति! तुम रो क्यों रही हो? क्या तुम्हें किसी प्रकारका लौकिक कष्ट है अथवा किसीने तुम्हारे सत्-धर्मपर आक्षेप किया है?'

सुमति बहुत ही करुणाजनक शब्दोंमें बोली—'क्या कहूँ बहिन! मैं ऐसी अभागिनी हूँ कि संसारका कोई सुख मेरे लिये नहीं रहा। संसार मुझे शून्य जान पड़ता है। हाय! माया बड़ी मोहिनी है। इसने पहले मेरे लिये सुखके अनेक साधन इकट्ठे करके बड़ा मोह-जाल बिछा दिया था। मैं नाना प्रकारकी इच्छाएँ करके उनकी पूर्तिकी प्रतीक्षा कर रही थी कि अचानक मेरी आशाकी डोरी कट गयी। मेरा सुनहरा संसार लुट गया। कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? जिधर देखती हूँ अँधेरा-ही-अँधेरा दीखता है। सच मानो बहिन! अब तो मेरा चित्त यही चाहता है कि मैं किसी प्रकार मर जाऊँ।'

इतना सुनकर शान्तिदेवी बोली, 'वाह बहिन! खूब कहा! क्या तुमने मायाको कभी देखा है?'

सुमति—'देखा तो कभी नहीं, केवल सुना है कि यह सब मायाका ही पसारा है। क्या आपने मायाको देखा है? कुछ भी हो, जैसे भी हो, मेरे दु:खको अगर दूर कर सकती हो तो करो; नहीं तो मुझे कोई ऐसी युक्ति बताओ, जिससे मैं तुरन्त मरकर शान्ति पाऊँ।'

शान्तिदेवी—'मैं तुम्हें मायाका स्वरूप बताऊँगी और जीते-जी मरना भी सिखाऊँगी। अब तुम शोकको छोड़कर मनको स्थिर करो और मेरी बात ध्यान देकर शान्तिपूर्वक सुनो।'

'यह तो तुम जानती ही हो कि इस जगत्‌में जीव अकेला ही आता है। धन-दौलत इत्यादि कुछ भी साथ नहीं लाता और जाता है तब भी खाली हाथ ही जाता है।'

सुमति—'हाँ, यह तो मैं जानती हूँ। एक दिन इसपर पिताजीने मुझे बहुत समझाया था।'

शान्तिदेवी—'अब सोचो कि तुम्हारे साथ मित्र, धन, सम्बन्धी न कोई आया है और न जायगा। सब यहीं मिले हैं और यहीं छूट जायँगे तो फिर इन नश्वर पदार्थोंसे मोह करके रोना कौन-सी बुद्धिमानी है? तुम कहती हो, 'माता मेरी, पिता मेरा, पति मेरा, पुत्र मेरा, घर मेरा, धन मेरा, यह मेरा, वह मेरा।' किन्तु मैं तो कहती हूँ इन सबको तो जाने दो, जिसमें बैठकर यह 'मैं', 'मैं' कर रही हो, वह शरीर भी तुम्हारा नहीं है; फिर किसीसे मोह करके क्या लेना है; यह तो मूर्खोंकी बातें हैं, सुनो—

भगवान् सच्चिदानन्द आनन्दकन्द सुखधाम हैं और यह जीव भी जो शरीरमें बैठकर 'मैं', 'मैं' करता है, भगवान्‌का ही सनातन अंश है। फिर भला इसमें दुःख आ ही कहाँसे सकता है; यह तभी दुःखी होता है जब संसारी वस्तुओंमें आसक्त होकर उन्हें 'मेरा', 'मेरा' कहने लगता है और यह भूल जाता है कि संसार मेरा घर नहीं है और न यहाँकी कोई भी चीज मेरी है। किसीने ठीक ही कहा है—

'ना घर तेरा ना घर मेरा चिड़िया रैन बसेरा।'

सुमति—'तो क्या यह सम्भव है बहिन! कि जीव न तो संसारी सुखोंसे मोहित हों और न दुःखोंसे घबड़ायें?'

शान्तिदेवी—'हाँ, हाँ! सम्भव क्यों नहीं है? चित्तको तुम ज्यों-ज्यों संसारी विषयोंसे हटानेकी कोशिश करोगी, त्यों-ही-त्यों हटता जायगा। बहिन! यह संसार एक सराय है और हम सब जीव इस सरायके मुसाफिर हैं। यहाँ सदाके लिये कोई नहीं आता, सब जीवोंकी आयु निश्चित होती है। जिसकी आयु जितनी है, वह उतने ही दिनतक इस सरायमें रह सकता है।'

इतना कहकर शान्तिदेवीने सुमतिको यह भजन सुनाया—

कोई दममें दम जब यह जाता रहेगा।
तो ऐ दिल! बता, किससे नाता रहेगा॥ टेक॥
जरा ख्वाबे गफलतसे बेदार हो तू।
फिर कौन तुझको जगाता रहेगा॥
होवे भलाई तो कर ले मुसाफिर।
यहाँ कौन फिर-फिरके आता रहेगा॥
दुनियाँ सराये सरासर है फानी।
सभी जब गये तो तू ही क्या करेगा॥
जो करता रहेगा सुमिरन हरीका।
तो बेशक 'वह' तुमको जगाता रहेगा॥

'देखो बहिन! ये संसारके सम्बन्ध यहीं बनते हैं और यहीं छूट भी जाते हैं। यह तो स्वप्नका-सा खेल है। स्वप्न देखनेके बाद जब आँखें खुलती हैं तब मनुष्य जानता है कि मैंने जो देखा था, वह सब झूठ ही था। इसी तरह ये संसारके पदार्थ भी झूठे हैं। संसारी वस्तुओंको देख-सुनकर और भोगकर मन उनको अपनानेके लिये लालायित हो जाता है। विषयोंकी यह कामना ही दुःख देती है। जब इच्छाएँ बढ़ जाती हैं तभी मन बात-बातमें सुख-दुःखका अनुभव करके अपनेको सुखी-दुःखी मानने लगता

है। चित्तमें जैसा संकल्प दृढ़ होता है, वैसा ही संसार दीख पड़ता है। हे बहिन! जब तुम अपने असली स्वरूपको जान लोगी तब तुम्हें भी दुःख और सुख समान हो जायँगे। अपने स्वरूपका ज्ञान वेदान्तके विचारसे और संतोंका संग करनेसे होगा। संसारी इच्छाओंसे चित्तको रोककर ईश्वर-भजन करोगी तब तुम्हें अपने स्वरूपका ज्ञान हो जायगा।'

'बहिन! तुम बहुत गहरी नींदमें सो चुकी, अब तुम्हें जागना चाहिये। यह मनुष्य-देह इसलिये मिला है कि जीव इस बातको जान ले कि मैं ईश्वरका सनातन अंश हूँ; मुझमें सुख-दुःख कदापि नहीं हैं, मैं अविनाशी हूँ, मुझ आत्मस्वरूप परम तत्त्वका कभी नाश नहीं होता। वैसे तो और भी बहुत-सी योनियाँ हैं, पर किसीमें भी विचार करनेकी सामर्थ्य नहीं है। बहिन! यह मनुष्य-जीवन विषयभोगोंमें ही समाप्त न हो जाय, इसका हर एक नर-नारीको खूब ध्यान रखना चाहिये। भगवान्‌का भजन ही यहाँ सार तत्त्व है और मान लो कि इस जन्ममें भगवान्‌का भजन किया जावे, परंतु अभ्यासकी कमीसे मृत्युके समय भगवान्‌में चित्त न रहे तो कर्मोंके परिणाममें किसी पशु या पक्षीकी योनि मिलनेपर भी वह पूर्वाभ्यासवश प्रभुका थोड़ा-बहुत भजन करता रहेगा। किन्तु दुःखसे सर्वथा रहित परमानन्दमय परम तत्त्वस्वरूप मोक्षपदको तो जीव तभी पावेगा जब वह मनुष्य-शरीर पाकर सत्पुरुषोंका संग और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करके विचार करेगा तथा इस प्रकार तत्त्वज्ञानको प्राप्त होगा।'

शान्तिकी यह बात सुनकर सुमतिको एक बात याद आयी और वह बोली—बहिन! एक समयकी बात है। सबेरेका समय था। मैं बागमें बैठी हुई थी। क्यारियोंमें नाना प्रकारके

फूल खिल रहे थे। छोटी-छोटी चिड़ियाँ डालियोंपर चहचहा रही थीं। पास ही एक बड़का पेड़ था। नीचे तोतेका पिंजरा रखा था। उस समय मेरे मनमें विचार आया कि क्या यह सब रचना प्रभुकी है? अहा! मैं उस आनन्दमय भगवान्‌को कब जानूँगी? क्या उपाय करूँ जो मैं प्रभुको जानकर सुखी हो जाऊँ? बस, इसी समय सामनेके वृक्षपर दो छोटी-छोटी काली चिड़ियाँ आकर बैठीं। वे फुदक-फुदककर इस प्रकार गाने लगीं—

'प्रभुजी! प्रभुजी! तुम सच्चिदानन्द हो।'

तीन-चार बार इस प्रकार बोलीं और उड़ गयीं। चिड़ियोंकी बात सुनकर मेरे मनमें विचार हुआ कि अवश्य ही ये पहले जन्ममें ईश्वर-भक्त रही होंगी। कर्मवश चिड़ियाँ बनी हैं, कर्मभोग समाप्त होनेपर फिर मनुष्य-देह पावेंगी, तब मोक्षपद प्राप्त करेंगी, पर हे प्रभो! मैं इस आनन्दरूपको किस युक्तिसे जानूँ? इतनेमें पिंजरेका तोता बोल उठा—

'मिट्ठू! राम-राम कहो।'

उस समय तोतेसे 'राम-नाम' सुनकर मेरे चित्तमें इतनी प्रसन्नता हुई कि मैं उसको कह नहीं सकती। मिट्ठूके वचनसे मुझे विश्वास हो गया कि प्रभुका नाम जपनेसे ही मैं उस आनन्दमय पदको पाऊँगी।

किन्तु बहिन! इतना होनेपर भी, बहुत समझाने-बुझानेपर मेरा मन संसारी सुखोंकी ओर दौड़ता है और उसीके सुखोंको ललचाया करता है। अब बताओ, मैं क्या करूँ?'

शान्तिदेवी—'प्यारी बहिन! मैं तुमसे सच कहती हूँ, संसारी वस्तुओंमें तनिक भी सुख नहीं है, सुखस्वरूप तो आत्मा ही है। जब चित्त सम और शान्त होता है, उस समय

आनन्दका अनुभव होने लगता है। हम सब सच्चिदानन्दके स्वरूप-अंश होनेसे आनन्दरूप ही हैं। अपने इस रूपको भूलकर अपनेको शरीर, इन्द्रिय आदि मानने लगे हैं। इसीसे दुःखी हो गये हैं। नाना प्रकारकी इच्छाएँ करके हमने अपने अन्तःकरणको मलिन कर लिया है और अन्तःकरणकी मलिनताके कारण हमें अपना स्वरूप नजर नहीं आता। दुःखी जीव अज्ञानके कारण ही संसारको दुःखोंसे पूर्ण मानकर दुःखी होता है। वह समझता है कि सुख तो है ही नहीं। ईश्वरीय नियम है कि दुःखके बाद सुख और सुखके बाद दुःख आते-जाते रहते हैं। ज्ञानी पुरुष इनमें विचलित नहीं होते। अज्ञानी ही इच्छाके विपरीत वस्तु मिलनेपर दुःखी होते हैं तथा इच्छा पूरी हो जानेसे अपनेको सुखी मानने लगते हैं और इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगोंमें लगे रहकर अपने रूपको नहीं पहचान पाते। जब जीवको यह ज्ञान हो जायगा कि मैं भगवान्‌का ही एक अंश हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ और वह आनन्द सर्वत्र परिपूर्ण है तब उसे दुःख कहीं दिखायी ही नहीं देगा। सूर्यका प्रकाश तभीतक नहीं दीखता जबतक उसके ऊपर काले बादल छाये रहते हैं। हमारी नाना प्रकारकी अज्ञानपूर्ण इच्छाएँ ही काले बादल हैं, जिन्होंने सूर्यके समान प्रकाशमान हमारे आत्माको ढक रखा है। जिस समय विचार करके तुम जान लोगी कि मैं शरीर नहीं, बल्कि शरीरका स्वामी और शरीरसे अलग हूँ, उस समय तुम भी आनन्दमें लीन हो जाओगी। हे बहिन! तुम्हारा स्वरूप आनन्द है। बस, इसीको जानकर तुम आनन्दमें लीन हो जाओ।'

शान्तिका साधन

सुमति—'बहिन! मैं कैसे अपनेको आनन्दरूप जानूँ? आप ही कोई युक्ति बतानेकी कृपा करें।'

शान्तिदेवी—'बहिन! संसारकी जिन चीजोंकी ओर तुम्हारा चित्त खिंचता है, उनके स्वरूपको जानकर उनसे अपनेको बचाये रखो। तुमको भूलसे ही उनमें सुन्दरता और सुख भासते हैं। असलमें उन विषयोंकी इच्छा ही जीवका शत्रु है और सारे दु:खकी यही जड़ है। पहले कामना होती है, जब वह पूरी नहीं होती तो क्रोध आता है और यदि पूरी हो जाती है तो लोभ और मोह बढ़ जाते हैं। बस, यह काम, क्रोध, लोभ और मोह ही जीवके प्रबल शत्रु हैं। इन्हींके वशमें हो जानेसे अपना आनन्दरूप दिखायी नहीं देता। पहले तुम इन शत्रुओंको जीतनेका प्रयत्न करो, भगवान् तुम्हें बल देगा।

'सुनो, संसारमें जितने प्राणी हैं, सब सुख ही चाहते हैं। सुख मिल जाय इसीलिये अधिक-से-अधिक सुखकी सामग्री इकट्ठी करते हैं। जितना ही बाहरी वस्तुओंमें सुख दीखता है, उतना ही मनुष्यका लालच बढ़ता जाता है और जितना लालच बढ़ता है, उतना ही विक्षेप बढ़ता जाता है। विद्यमान सुख उसे सुखी नहीं बनाते, बल्कि उलटे दु:खी करते रहते हैं और अन्तमें पहले सुखोंसे भी हाथ धोना पड़ता है। असल बात यह है कि परमात्मा या आत्माको छोड़कर बाहरकी वस्तुओंमें जो सुख प्रतीत हो रहा है, वह वास्तवमें उन वस्तुओंमें नहीं; वह तो तुम्हारे आत्म-सुखकी ही परछाईंमात्र है। उनमें सुख देखना ही गलती है। इसी गलतीके कारण जीव बार-बार दु:खी होता है। अच्छा, तुम्हीं बताओ, जैसी दु:खदायी दुनिया तुम्हें इस समय जान पड़ती है, क्या विवाहके समय भी वैसी जान पड़ती थी?'

सुमति—'नहीं बहिन! उस समय जो जान पड़ता था कि संसार सुखसे परिपूर्ण है, किन्तु मेरा वह सुखका स्वप्न बहुत शीघ्र भंग हो गया।'

शान्तिदेवी—'ठीक है, जबतक मनुष्यकी सांसारिक इच्छाएँ पूरी होती रहती हैं तबतक उसको सुख प्रतीत होता है। किन्तु है यह भूल! वस्तुओंमें सुख है ही नहीं, सुख तो उस इच्छापूर्तिके समय स्थिर चित्तमें भासित होनेवाले अपने आत्मामें है। तुम यदि सच्चा आनन्द और सदा रहनेवाला सुख चाहती हो तो थोड़ी-बहुत साधना किया करो।

देखो 'बहिन! सत्-चित्-आनन्दघनका प्रतिबिम्ब अन्तः-करणपर पड़ता है, वह अन्तःकरणरूपी दर्पण मैला हो रहा है। जैसे दर्पण मैला होनेपर उसमें मुँह नहीं दीखता, वैसे ही अन्तःकरणके मलिन होनेसे निजानन्दका भान नहीं होता। जिसे संसारमें सुख दिखायी न देता हो और दुनियाके भोगोंमें वैराग्य हो गया हो वह भाग्यवान् है। उसे चाहिये अपने चित्तको फिर विषय-भोगकी ओर जाने ही न दे। चित्तको निरन्तर ईश्वर-चिन्तन और भगवान्‌के नाम-जपमें लगाये रखे। इस प्रकार जो रात-दिन अभ्यास करता है, दुनियाको असत् और शरीरको नाशवान् जानता है तथा आत्माको नित्य अविनाशी समझता है, वह एक-न-एक दिन अवश्य निजानन्दका अनुभव कर लेता है।'

सुमति—'बहिन! मैं यह जानती हूँ कि शरीर नाशवान् है और इन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाले भोग विनाशी हैं, वे सदा सुख देनेवाले नहीं हैं, परंतु मन तो सदा उन्हीं भोगोंके लिये लालायित रहता है। क्या करूँ?'

शान्तिदेवी—'ठीक है, पूर्वजन्मोंके संस्कारसे इन्द्रियोंका स्वभाव विषयोंकी ओर जाता ही है। किंतु परमात्माने इन इन्द्रियोंसे ऊपर मन

और उससे भी ऊपर हमें बुद्धि दी है। तुम शुद्ध बुद्धिके द्वारा अवश्य ही इन्द्रियोंको जीत सकोगी। बुद्धिको शुद्ध और चित्तको निर्मल बनानेके लिये नित्य ईश्वरसे प्रार्थना किया करो। वह सर्वान्तर्यामी सब कुछ करनेमें समर्थ है।'

इतना सुनते ही सुमतिकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह रोती हुई कातर स्वरसे इस प्रकार प्रार्थना करने लगी—

हे मेरे भगवन्! दयादृष्टिसे टुक,
इधर देखकर अब तो अपनी बना लो।
दयासिन्धु स्वामिन्! दया दान देकर,
इसे नाथ! सत्तामें अपनी मिला लो॥ टेक॥
अनेकों विपद्से उबरी हूँ जैसे,
उसी भाँति संसार-सागरसे तारो।
मुझे मोह-ममतासे जगको बचाकर,
अहो प्रेमधन! अपनी प्रेमिन बना लो॥ १॥
विषयकी सभी वासनाओंको हरकर,
निकालो हृदयसे यह अज्ञानका तम।
वह ज्योति जरा अपनी जगमग जगाकर,
यह जीवन मेरा नाथ! अपना बना लो॥ २॥
हरे! तत्त्व अपना जताकर इसे सब,
हरो मोह-रजनी महा मोहकारी।
सुनाकर मधुर तान मुरलीकी मोहन,
मुझे नाथ! चरणोंकी चेरी बना लो॥ ३॥
कृपामय! करो अब तो इतनी ही करुणा,
इसे आपके जन भी अपनी ही मानें।
सदा चित्त रमता रहे आपहीमें,
जगज्जालसे नाथ! जल्दी छुड़ा लो॥ ४॥

यह प्रार्थना सुमतिने ऐसे करुणाभरे शब्दोंमें की कि शान्तिदेवीके भी रोम खड़े हो गये। उन्होंने दोनों हाथोंसे सुमतिको पकड़कर अपने हृदयसे लगा लिया तथा सुमतिके सिरपर अपना कोमल और शीतल हाथ रखकर वे इस प्रकार मधुर वचन बोलीं—'बहिन! दयामय भगवान्‌से इसी प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये। साथ ही भगवान्‌की दी हुई शक्तिसे स्वयं भी अपने अन्तःकरणका निरीक्षण करते रहना चाहिये। मन बन्दरकी तरह अत्यन्त चंचल है। एक जगह स्थिर होकर नहीं रहता। जैसे बन्दर कभी इस डालपर, कभी उस डालपर छलाँग मारता रहता है; इसी प्रकार मन भी पल-पलमें कभी किसी विषयकी ओर तो कभी किसीकी ओर दौड़ता रहता है। संसारमें जिसका मन विषयोंमें फँसा है बस, वही दुःखी है। इस मनको विषयोंकी ओरसे रोको और आनन्दस्वरूप श्रीभगवान्‌के चिन्तनमें लगाओ।'

सुमति—'इस मनको विषयोंसे किस प्रकार रोकूँ? मनको रोकना तो मैं अत्यन्त कठिन समझती हूँ। आपके उपदेशसे मैंने यह समझ तो लिया कि इस मनने ही मुझे आनन्दपदसे हटाकर बहुत दूर ला पटका है और यह मन लोभ-मोहका जाल बिछाकर विषय-कामनाओंमें फँसा नाना प्रकारके दुःख भुगता रहा है। वैराग्य, विचार, धैर्य और सन्तोषकी ओर यह दृढ़ होकर नहीं लगता। सदा विषयोंके चिन्तनमें ही लगा रहता है। कुत्तेकी तरह सर्वदा यहाँ-वहाँ भटका करता है। विषयोंको सुखमय जानकर भोगने जाता है और कभी-कभी सुख थोड़ा और दुःख बहुत जानकर उनकी ओर फिर न जानेकी प्रतिज्ञा भी करता है, परंतु तनिक-सी देरमें ही अपनी प्रतिज्ञा भूलकर फिर उन्हींमें रम जाता है। जब देखो यह विषयोंमें ही फँसा दिखायी देता है। बहिन! मनकी इस विषय-तृष्णाने ही मुझे बहुत दुःखी बना रखा है। मैं कब इस तृष्णाको जीतकर स्वतन्त्र हो सकूँगी?'

शान्तिदेवी—'जिस विषयको मनुष्य चाहता है, उसके मिलनेपर एक बार तो सुख और शान्ति-सी दिखलायी देती है परंतु वह ठहरती नहीं; तुरन्त ही नष्ट हो जाती है और फिर शान्तिके बजाय तृष्णा और भी बढ़ जाती है। इसलिये भोगोंकी प्राप्तिमें कभी सुख या शान्ति हो ही नहीं सकती। बुद्धिमान् मनुष्यको तो भोगोंकी इच्छासे ही चित्तको हटानेकी कोशिश करनी चाहिये और कोई रास्ता है नहीं।'

बहिन! खूब जान लो, यह मन जिस ओर लग जाता है, उसीका रूप बन जाता है। मनुष्य जब क्षण-क्षणमें बदलनेवाली नाशवान् संसारी चीजोंका चिन्तन करता है तब वैसा ही बनकर अपनेको दुःखी-सुखी मानने लगता है और जब यही मन आत्मचिन्तन करता है तब नित्य अखण्ड आनन्दस्वरूप आत्माकार बनकर सुख-दुःखसे रहित केवल अनिर्वचनीय आनन्दका ही अनुभव करता है। इसलिये तुम अब अपने चित्तको विषय-चिन्तनसे हटाकर केवल आत्मचिन्तनमें लगानेका अभ्यास किया करो। इससे तुम्हारा सारा शोक मिट जायगा और तुम नित्य सुख प्राप्त करोगी।'

सुमति—'क्यों ऐसा हो सकता है कि मेरा मन संसारसे उपराम होकर आत्मामें ही स्थिर हो जाय?'

शान्तिदेवी—'हाँ-हाँ! हो तो सकता ही है। जब हमें मनुष्य-जीवन मिला, तभी इसकी संकल्प-शक्ति भी मिली थी। अब यह अपने ही हाथकी बात है कि उस शक्तिको बढ़ाकर हम आत्माकी ओर लगा दें या दबाकर उसे विषयोंके गड्ढेमें गिरा दें। जो मनुष्य यह समझते हैं कि 'संसारी काम जरूरी है, यहाँके भोग भोगनेको ही हम इस संसारमें आये हैं, इसीलिये हमारा जन्म हुआ है, ईश्वर-भजन, ईश्वर-चिन्तन तो जब बूढ़े होंगे तब कर लेंगे' जान लो कि वे अज्ञानमें हैं, मायाके चक्करमें फँसे

हैं। भला, देखो बहिन, किसीको क्या खबर कि किस समय शरीर छूट जाय। शरीर छूटनेके समय जैसा मन होता है, वैसा ही आगेका जन्म होता है और शरीर छूटनेके समय मनमें वही संकल्प और इच्छाएँ रहा करती हैं, जिसके अनुसार हमने जीवनभर काम किया है; इसलिये बुढ़ापेकी बाट न देखकर शुरूसे ही, जबसे यह बात समझमें आ जाय तभीसे ईश्वर-चिन्तन करने लगना चाहिये। इसीमें मनुष्यकी बुद्धिमानी है।

आजकल बहुत-से नास्तिक जीव कहा करते हैं कि संसारमें आकर संसारके काम किये बिना, विषयोंको भोगे बिना काम ही नहीं चल सकता। इस मोहसे पैदा होनेवाले पापके संकल्पने जीवके चित्तको मलिन और धर्मसे विमुख कर दिया है। बड़े शोककी बात है, पशुओंके भी अयोग्य बुरे कर्मोंको मोहमें फँसे हुए आजकलके मनुष्य कर्तव्य बतलाने लगे हैं। सुमति! इस भ्रममें कभी भूलकर भी मत पड़ना। तुम्हारे अन्दर जवाहरातोंसे भी ज्यादा कीमती जौहर मौजूद है। तुम उस शक्तिको जानो और अपने विचारोंको उत्तम बनाकर पवित्र जीवन बिताओ। जो मनुष्य अपने जीवनको ब्रह्मचर्यमें बिताता है और पवित्रतापूर्वक रहता है, वह अपने पुरुषार्थसे बड़ा विचारवान् और अत्यन्त सहनशील बन जाता है। हे सुमति! तुम भी सदा भगवान्‌के स्मरण-भजनद्वारा मनको भगवान्‌में ही लगाये रखनेका अभ्यास करो और अपने पाप-तापसे रहित शुद्ध रूपको पहचाननेके लिये विचार और जतन किया करो। ऐसा करोगी तो तुम भी पारस बन जाओगी। पुण्यकर्मसे मिले हुए इस दुर्लभ मनुष्य-जीवनको, जो अनमोल रत्न है, दुःख देनेवाली और कल्याणसे हटानेवाली संसारी इच्छाओंमें मत गवाँओ। चेतो! चेतो! सुमति! समय बीता जाता है, कालको तुम सर्वथा ही भूल बैठी हो। सोचो तो भला, क्या

तुम्हें सदा इस संसारमें ही रहना है? क्या यहाँसे कभी जाना नहीं है? 'आँखें खोलो, अपनेको पहचानो।'

सुमति—'बहिन! जो पैदा हुआ है वह तो अवश्य मरेगा—यह बात मेरे मनमें बैठ गयी है।'

शान्तिदेवी—'बस, तो फिर संसारको मृत्युके मुखमें पड़ा देखकर यहाँके भोगोंसे चित्तको हटा लो। परमात्माका स्मरण करो। मनको सदा शुद्ध संकल्पोंसे भरनेकी चेष्टा करो। जैसे संकल्प जीवनमें बनाये रखोगी, वैसा ही परिणाम भी देखोगी। देखो, तुम्हें जो यहाँ अन्धे, कोढ़ी, लँगड़े, अपाहिज, गरीब और दीन दीखते हैं, उनकी यह दशा उनके अपने ही पहले किये हुए कर्मोंका परिणाम है। यह निश्चित जानो कि हम जैसा कर्म करते हैं वैसा ही फल पाते हैं। दूसरी तरफ देखो, ये अमीर, वजीर, राजा, साहूकार जो नाना प्रकारके भोग भोग रहे हैं, यह भी उन्हींके पूर्वजन्मके शुभकर्मोंका फल है। परन्तु विचारकर देखो, ये भी हैं तो नाशवान् ही। मनुष्यका जीवन संसारके इन तुच्छ भोगोंमें नष्ट करनेके लिये नहीं मिला है। मनुष्यका शरीर पाकर उस आनन्दको पाना है जो अखण्ड है, नित्य है, पूर्ण है और अविनाशी है। उसीके लिये चेष्टा करो। शुभ संकल्प और शुभ विचार ही शुभ कर्म करवाकर हमें महान् बना देते हैं। जो अशुभ संकल्प करते हैं, उनके काम भी अशुभ होने लगते हैं। इन्हीं अशुभ कर्मोंके परिणाममें जीव मनुष्य-योनिको छोड़कर पशु आदि योनियोंमें जाते हैं। बहिन सुमति! अपनी शुभ और सुदृढ़ संकल्प-शक्तिसे ही तुम उस परम तत्त्वको पा सकोगी,' जो मैं तुम्हें बताना चाहती हूँ। जब तुम विषयोंके संकल्प छोड़कर एकमात्र आत्मतत्त्वका ही विचार करने लगोगी, तब तुम्हारे अन्दर वह दिव्यशक्ति जाग्रत् जो जायगी। फिर कोई भी शक्ति तुम्हें लक्ष्यसे

न डिगा सकेगी। अतएव अब तुम अपनी चारों तरफ बिखरी हुई वृत्तियोंको समेटकर केवल आत्मचिन्तनमें ही लगा दो।

बहिन सुमति! विषयभोग तो सभी योनियोंमें मिलते रहे हैं। पता नहीं, कितने लाखों-करोड़ों योनियोंमें मनुष्य संसारके इन जहरीले भोगोंको भोग चुका है, परन्तु उसे तृप्ति नहीं हुई। ऐसा कभी नहीं हुआ कि बस, अब बन्द करो। पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि सभी योनियोंमें खाने-पीने-सोने और मैथुन-सुख भोगनेकी पूरी स्वतन्त्रता रही है, परन्तु भगवान्‌का स्मरण-भजन तो सिवा मनुष्य-जीवनके और किसी भी जीवनमें न कर सकोगी। इस बातको समझकर अबसे तुम संसारके किसी भी विषयका चिन्तन मत किया करो। यह व्यर्थ ही दुःख मोल लेना है। प्रारब्धसे आनेवाले भोगोंको बिना रागके भोगो। ईश्वरार्पणबुद्धिसे सब काम करो। वे कर्म भी ऐसे हों जिनसे दूसरोंका कुछ उपकार हो। ऐसा करनेसे धीरे-धीरे अहंकारका नाश हो जायगा और तुम परम शक्तिको पा सकोगी। देखो, गुरु नानकदेव क्या कहते हैं—

नानक दुखिया सब संसारा। सुखिया सो जो नाम अधारा॥

जो प्रेम-भक्तिके सहित प्रभुके नामका जप करता है, वह सारे दुःखोंसे छूट जाता है। जिस समय मनुष्यके चित्तमें सच्ची भक्ति जाग्रत् हो जाती है, उस समय उसके सब काम निष्काम होने लगते हैं और उसे कोई दुःख या उद्वेग नहीं रहता। वह मनुष्य हर एक कामको ईश्वरकी आज्ञा मानकर उसे भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही करता है। वह परमात्माको सर्वव्यापक जानता है, इसीलिये जीवमात्रकी सेवाको ईश्वर-सेवा ही मानता है। इस प्रकार ईश्वरको जो सर्वत्र परिपूर्ण देखकर संसारमें सेवा-भावसे कर्म करता है, उसका जीवन सुखमय हो जाता है। तुम्हें एक कहानी सुनाती हूँ, मन लगाकर सुनो।

प्रेममें परमेश्वर

किसी गाँवमें किसनू नामका एक बनिया रहता था। छोटी अवस्थासे ही वह ईश्वर-भक्त था। रोज मन्दिरमें जाता, एकादशी, पूर्णमासी आदिका व्रत भी करता था और कीर्तनका बड़ा प्रेमी था।

सड़कके किनारे उसकी दुकान थी, वहाँ रहते बहुत काल बीत चुका था। उस गाँवके निवासी उसे अच्छी तरह जानते थे और वह भी सबको जानता था। वह बनिया था बड़ा ही सदाचारी, सत्यवक्ता, व्यवहारकुशल, धर्मात्मा और सुशील। जो बात कहता उसे जरूर पूरी करता। कभी न कम तौलता और न किसी प्रकार कभी किसीको धोखा ही देता।

उसके कई बच्चे तो पहले ही मर चुके थे। एक नन्हा-सा शिशु छोड़कर उसकी स्त्री भी चलती बनी। पहले तो किसनूने सोचा, 'बालकको अपने बहनके पास भेज दूँ।' पर इस बालकसे उसे बड़ा मोह हो गया था। स्वयं ही उसे पालने लगा। दिन-रात उसीके काममें लगा रहता।

समय बदलता रहता है। जब बालक युवावस्थाको प्राप्त हुआ तो किसनू उसके विवाहकी चिन्तामें लगा और बड़ी खुशीसे विवाहकी तैयारी करने लगा। मनुष्यकी इच्छाएँ तो अनन्त हैं, पर उन इच्छाओंका पूरा होना-न-होना अपने हाथकी बात नहीं है। किसनूके भाग्यमें संसारी सुख नहीं लिखा था। अचानक कालभगवान्‌ने लड़केको अपनी गोदीमें उठा लिया।

अब तो किसनूके शोककी सीमा न रही। उसके मनमें तो ईश्वरपर बड़ा विश्वास था; परन्तु शोकमें व्याकुल होकर वह परमात्माकी निन्दा करने लगा। वह कहता, 'निर्दय है, बड़ा

अन्यायी है। हाय! मारना मुझ बूढ़ेको था मार डाला जवान लड़केको।' रात-दिन रोता। मन्दिरमें जाना भी कम हो गया। कहता, 'मैंने इतने दिन व्रत-उपवास किये, पर भगवान्‌ने मेरी एक न सुनी।' एक दिन उसका मित्र मिलने आया, वह भक्त और आत्मज्ञानी था।

किसनू बोला, 'भाई! देखो, सर्वनाश हो गया। हाय! अब तो मेरा जीना भी व्यर्थ है। मैं रात-दिन मनाता हूँ, पर मुझे मौत भी नहीं आती।'

मित्र—'ऐसा मत कहो! परमात्माकी लीलाको हम नहीं जान सकते। वह जो कुछ करता है, ठीक ही करता है। पुत्रका मरना और तुम्हारा जीवित रहना विधाताके हाथ है और इसमें कोई क्या कर सकता है? तुम्हारे शोकका मूल कारण यह है कि तुम अपने सुखमें सुख मानते हो। पराये सुखमें सुखी नहीं होते।'

किसनू—'भाई! क्या करूँ मैं बड़ा दुःखी हूँ। मुझे शान्तिकी राह दिखाओ।

मित्र—'भगवान्‌की निष्काम भक्ति करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। जब तुम सब काम ईश्वरको अर्पण करने लगोगे और भेदभाव छोड़कर निःस्वार्थभावसे जीवमात्रकी सेवा करोगे तो तुम्हें परमानन्दकी प्राप्ति होगी।'

किसनू—'भाई! इस समय तो कुछ भी नहीं सुहाता। कुछ ऐसी तरकीब बतलाओ कि चित्त ठिकाने आवे, मन स्थिर हो।'

मित्र—'भाई! तुम्हारा दुःख देखकर किसका हृदय विदीर्ण न होगा। परन्तु सोचो तो सही, उस दुःखमें घुलते रहनेसे क्या लाभ है? मनको समझाओ, चित्तको श्रीहरिके चरणोंमें लगाओ। तुरन्त शान्ति मिलेगी। अवश्य मिलेगी। हाँ, कुछ तरकीब बतलाता हूँ। ये सब आजमायी हुई बातें हैं। इन्हें करके देखो! तुरन्त दुःखसे

छूटोगे। श्रीगीताजीका पाठ किया करो। कुछ समय एकान्तमें बैठकर भगवान्‌का नाम लो और श्रद्धासहित 'भक्तमाल' पढ़ा करो। पढ़कर अथवा सुनकर याद रखा करो और उनका मनन करो। इन सत्-शास्त्रोंके पढ़ने-सुननेसे और सत्कर्म करनेसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो भी चाहो प्राप्त कर सकते हो। यह चारों ही फलोंके देनेवाले हैं। इनका पढ़ना आरम्भ कर दो और सत्संग किया करो। चित्तको बड़ी शान्ति मिलेगी।'

किसनूने फिर इन ग्रन्थोंको पढ़ना आरम्भ कर दिया। थोड़े ही कालमें उसे इन ग्रन्थोंसे बड़ा प्रेम हो गया। रातको भी श्रीगीताजी पढ़ने लगता और विचार करता। जब समय मिलता, एकान्तमें बैठकर भगवान्‌का भजन करता और उन्हींमें लवलीन रहकर आनन्दपूर्वक अपना जीवन बिताने लगा। शुरूमें तो अपने लड़केकी याद करके रोता था, पर अब उसे उसकी याद भी न आती थी। पहले मन बहलानेके लिये इधर-उधर बैठकर मित्रोंके साथ ताश-शतरंज भी खेल लेता था। पर अब वह एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोता था। एक दिन उसे पाठ करते-करते गीताजीमें यह श्लोक मिला—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६६)

किसनूका मन भगवान्‌की इस प्रेमभरी वाणी और मधुर आश्वासनमें लुभा गया। वह मुग्ध होकर विचारने लगा—'सब धर्मोंको छोड़कर एक मेरी शरण आ जा। मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा। तू सोच मत कर।' अहा! कैसे प्यारे वचन हैं। परमात्मा कैसे दयालु हैं। पापी, अधर्मी कोई भी क्यों न हो! शरण जानेपर प्रभु अपना ही लेते हैं। प्रभु प्राणिमात्रपर दया करते

हैं। जाति-पाँतिका विचार नहीं करते। उनकी सबपर समान कृपा है। तब क्या मुझे भी सबसे प्रेम नहीं करना चाहिये?'

इसके बाद शबरी और प्रह्लादकी कथा याद आते ही वह विचार करने लगा—'कब मुझे भगवान् दर्शन देंगे?' वह भगवद्दर्शनकी उमंगमें बैठा था। आवाज आयी, 'किसनू!' वह चौंककर उठ बैठा, चारों तरफ देखा, कोई न दीखा। इतनेमें फिर आवाज आयी, 'किसनू! मैं तुझे दर्शन दूँगा।' अब तो किसनू उठा। बाहर आकर देखा, किंतु कोई दिखायी न दिया, सोचने लगा, 'क्या यह स्वप्न था? नहीं-नहीं; मैं जाग रहा हूँ।' फिर अन्दर आकर लेट रहा। पर आज दर्शनकी लालसा लगी हुई थी। 'मैं तुझे दर्शन दूँगा'—यह आवाज उसके कानोंमें गूँज रही थी, आज नींद कैसी।

दूसरे दिन नित्य-नियम, पूजा-पाठ आदिसे निवृत्त होकर किसनू दुकानपर जा बैठा, रातकी बात उसे याद थी, 'मैं तुझे दर्शन दूँगा' अहा! प्रभु कब दर्शन देंगे? क्या प्रभु मुझे सचमुच दर्शन देंगे? किसनूकी दशा आज कुछ अजीब थी। रातकी बात रह-रहकर याद आ रही थी।

रातको पाला पड़नेके कारण सड़कपर बर्फके ढेर लगे हुए थे। किसनू अपनी धुनमें लगा था। इतनेमें कोई बर्फ हटानेके लिये आया। किसनूने समझा, 'भगवान् आनन्दकन्द आ गये।' आँख खोलकर देखा तो कालू बर्फ हटा रहा था। हँसकर कहने लगा, 'आया कालू, मैं समझा मेरे भगवान् आ गये। वाह री अक्ल!' कालू बर्फ हटाने लगा, वह बूढ़ा आदमी था। सर्दीके कारण उसके हाथ-पाँव अकड़ने लगे, शरीर काँपने लगा। उससे काम नहीं किया जाता था। वह थककर बैठ गया। उसी समय किसनूने कालूको बुलाया, बड़े स्नेहसे कहा—'आओ भैया कालू! आग ताप लो।'

करके देखो, यह सब क्या है? केवल भ्रम है न? न कोई किसीका पिता-माता है और न कोई सम्बन्धी है। केवल भूल और मोहसे ही सारे सम्बन्ध माने हुए हैं। गयी वस्तुके लिये रोना वृथा है। चाहे कोई कितना ही रोये, गयी वस्तु तो लौटती नहीं। ऐसा इस संसारमें नित्य ही देखनेमें आता है। इसलिये बेटा! देहका मोह छोड़ो। सत्य वस्तुकी सत्तासे यह जड देह खाती-पीती, चलती-फिरती नजर आती है, उसी सद्वस्तु परम तत्त्वको जानो। जिस तत्त्वके विलग हो जानेपर यह देह मरी कही जाती है, उस तत्त्वका कभी नाश नहीं होता। तुम उस परम तत्त्वको नहीं जानती, इसीसे दुःखी रहती हो। बेटा! असलमें न तुम दुःखरूप हो और न यह संसार ही दुःखरूप है। यह तो सब परमात्माके संकल्पसे रचा गया है। वह परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है, इसलिये वस्तुतः सब जगह आनन्द ही भरा हुआ है और वही आनन्द तुम्हारा-हमारा सबका असली स्वरूप है।'

जिसको तुम 'मैं' कहती हो, वह आत्मा है। वह अविनाशी और आनन्दस्वरूप है। यह देह नाशवान् है और अज्ञानवश इसमें 'मैं' पनका मिथ्या आरोप होनेके कारण जब इन्द्रियोंके विषयोंसे सम्बन्ध होता है तब दुःख-सुखका अनुभव होने लगता है। अपने स्वरूपको न जाननेके कारण यह मन अपने प्रतिकूल विषयकी प्राप्तिमें अपनेको दुःखी और अनुकूलकी प्राप्तिमें सुखी मानने लगता है। ये दुःख-सुख अज्ञानमें हैं और आने-जानेवाले हैं। प्रारब्धके कारण हर एक जीवको दुःख-सुख भोगने पड़ते हैं। जो विचारवान् हैं वे न तो दुःखमें दुःखी होते और न सुखमें इतराते ही हैं। वे किसी भी हालतमें अपने स्वरूपको भूलते नहीं। वे सदा शान्त रहते हैं। तुम भी अपने आनन्दस्वरूपके चिन्तनका अभ्यास करो और सदा सन्तुष्ट रहकर इन सुख-दुःखरूप द्वन्द्वोंको सहो।

कालूने धन्यवाद दिया और वह आग तापने लगा। कालूने कहा—'कैसे काम करूँ? मुझे तो जाड़ा सता रहा है।'

किसनू—'तुम फिक्र मत करो। बर्फ मैं हटा दूँगा, तुम हाथ सेंक लो।'

कालूने कहा—'क्या तुम किसीका इन्तजार कर रहे थे?'

किसनू—'क्या कहूँ? कहते लज्जा आती है।' रातको मैंने आवाज सुनी थी; बाहरसे कोई कह रहा था 'किसनू! मैं तुझे दर्शन दूँगा।' बाहर जाकर देखा तो वहाँ कोई न था। मुझे विश्वास है, दयालु प्रभु जरूर दर्शन देंगे। बस, 'मैं उन्हींका इन्तजार कर रहा था।'

कालू—'यदि तुम्हें भगवान्‌से प्रेम है तो वे अवश्य दर्शन देंगे। अगर तुम मुझे आग न देते तो मैं तो मर ही जाता।'

किसनू—'वाह भाई! यह बात ही क्या है। इस दूकानको तो तुम अपना घर ही समझो।'

कालू धन्यवाद देकर चला गया। कुछ देरके बाद एक स्त्री आयी। वह एक फटा-चिथड़ा लपेटे थी, गोदमें बच्चा था। दोनों जाड़ेके मारे काँप रहे थे।

किसनूने बड़ी विनयके साथ अपनापन दिखाते हुए कहा—'माँजी! तुम कौन हो? इतने जाड़ेमें बाहर क्यों निकली हो; तुम और बच्चा दोनों ही जाड़ेसे काँप रहे हो। क्या कोई गरम कपड़ा नहीं है? आओ, आगसे हाथ सेंक लो।' स्त्रीने धन्यवाद दिया और हाथ सेंकती हुई बोली, 'मैं एक गरीब स्त्री हूँ, नौकरीकी तलाशमें भटक रही हूँ। इधर एक सेठानीके घर जाती हूँ यदि नौकरी मिल गयी तो काम चल जायगा।'

किसनूने उसे एक कम्बल ओढ़नेको दिया और कुछ मिठाई खानेको दी।

स्त्री बोली—'भगवान् तुम्हारा भला करें, तुमने बड़ी दया की। बालक जाड़ेसे मरा जाता था।'

किसनू—'मैंने कुछ दया नहीं की। मेरे भगवान्‌की ऐसी ही इच्छा थी।' इस स्त्रीसे भी किसनूने रातवाली बात कही।

स्त्री—'क्या अचरज है! भगवान्‌के दर्शन होना कोई कठिन बात नहीं। भगवान् तो अन्तर्यामी हैं। भक्तको इच्छानुसार जरूर ही दर्शन देते हैं।' कुछ देरके बाद वह स्त्री भी चली गयी।

सारा दिन बीत गया, रात हुई। किसनू खा-पीकर निश्चिन्त हुआ और गीता पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते आँख झपकी। देखा भगवान् सच्चिदानन्द खड़े हैं। आवाज आयी—'किसनू! मैं हूँ।' देखा तो कालू खड़ा था। थोड़ी देरमें देखा, कालू तो लुप्त हो गया। अब वही स्त्री बच्चेको गोदमें लिये खड़ी है। थोड़ी देरमें वह भी अन्तर्धान हो गयी। अब केवल सुदर्शनचक्र ही घूम रहा था और एक महान् प्रकाश दिखायी देता था। फिर आवाज आयी 'देख, मैं सबमें हूँ।'

किसनूको विश्वास हो गया कि सारा जगत् विष्णुमय है। जीवमात्रकी सेवा और उनपर दया करना ईश्वरकी ही सेवा करना है। यह मनुष्यमात्रका धर्म है। सुमति! अब फिर आवाज आयी, बड़ी गम्भीर आकाशवाणी हुई, उस आकाशवाणीको ध्यानसे सुनो—

'हे जीवो! मैं केवल प्रेम हूँ। प्रेम ही मेरा स्वरूप है। जो लोग संसारमें केवल आत्मभावसे प्रेम करते हैं, उन भक्तोंके हृदयमें मेरा निवास समझो। मैं उनके शुद्ध हृदयमें निवास करता हूँ।'

'वैरभावको बिलकुल छोड़कर परहितके लिये ही सब काम करो। इस प्रकार काम करनेसे चित्तमें बड़ी प्रसन्नता होगी। उस समय जिस विलक्षण आनन्दका अनुभव होगा, वह आनन्द

परमात्माका है। अरे जीवो! किसीसे किसी प्रकार लड़ाई-झगड़ा मत ठानो! पति-पत्नी, भाई-भाई, बहिन-बहिन और साथी-सम्बन्धी सब प्रेमपूर्वक रहो। निराकार-निर्गुणको पिता और साकार-सगुणको माता मानो। एक ही माता-पिताकी सन्तान हो। इसलिये सबसे प्रेम करो, सबमें प्रेम करो। जिसकी ऐसी उत्तम प्रेममयी गृहस्थी हो, उसे तुम मेरा निवास-स्थान समझो। जो किसीको ऊँच-नीच नहीं समझते, तन-मन-धनसे सब प्राणियोंकी सेवा करते हैं, उन लोगोंमें तुम निवास समझो।

'अरे जीवो! तुम सच मानो, जहाँ प्रेम है वहीं मैं हूँ, जहाँ करुणा है वहीं मैं हूँ, जहाँ मैत्री है वहीं मैं हूँ। चेतन और जड़में मैं हूँ। पुरुष और प्रकृतिमें मैं हूँ। जलचर, थलचर, नभचर—सभीमें मैं व्यापक हूँ। पहाड़, सागर, वृक्ष और पत्थरमें मैं हूँ। यहाँतक कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि भी मेरी सत्तासे सत्तावान् हैं। मैं उन सबमें व्यापक हूँ। जगत् विष्णुमय है, अतः तुम द्वेष छोड़कर सबमें प्रेम करो, प्रेम करो, प्रेम करो।'

फिर किसनूको भगवान्‌के दर्शन हुए और वह निहाल हो गया।

सुमति बोली, 'बहिन! यदि सब संसार विष्णुमय है तब तो सबको एकमात्र आनन्दका ही अनुभव होना चाहिये था। भगवान् प्रेमरूप हैं तब यहाँ भी केवल प्रेम-ही-प्रेम होना चाहिये था। राग-द्वेषका भाव ही क्यों हुआ?'

शान्तिदेवी—'तुम अभी नीचेकी भूमिकासे बात कर रही हो। जब तुम ऊपर चढ़ जाओगी तब समता आ जायगी। हम कुतुबमीनारपर जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे ही नीचेकी वस्तुएँ समानरूपमें दिखायी देने लगती हैं। हाँ, क्या तुम कभी कुतुबमीनारपर चढ़ी हो?'

सुमति—'चढ़ी तो हूँ। पर कभी इसका विचार ही नहीं किया।'

शान्तिदेवी—'अच्छा अब कभी चढ़कर देखना। जबतक नीचे खड़ी हो तभीतक कोई बड़ा, कोई छोटा, कोई ऊँच, कोई नीच जान पड़ता है। किंतु जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाते हैं, भेद-भ्रम मिटता जाता है। बहिन! याद रखो, जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। भेद-भ्रम मिटाकर जगत् विष्णुमय दीखने लगेगा। कुतुबकी तो पाँच मंजिलें हैं; परंतु ज्ञानकी सात हैं। ज्ञानकी चार भूमिकाएँ भी चढ़ जायँ तो फिर दुःख और परेशानीका नाम नहीं रहता।'

सुमति—'अहा! धन्य हो बहिन! कैसे सुन्दर आपके वचन हैं। अहा! वह समय कब आयेगा, जब मुझे भी जगत् विष्णुमय दिखायी देगा? सारा भेद-भ्रम मिट जायगा और चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द दृष्टिगोचर होगा।'

इतनेमें एक दासी आयी और उसने सुमतिसे कहा—'बीबीजी! दूध कितना लेना है?'

सुमतिने कहा—'दो सेर ले लो।'

दासी—'आज बड़े बाबूके यहाँका निमन्त्रण है, आप सब वहाँ जायँगी?'

सुमति—'अरे मैं तो भूल ही गयी थी। अच्छा एक सेर ले लो।' इतना सुनकर दासी चली गयी। फिर रसोइया आया और बोला—'बीबीजी! रसोई क्या बनेगी?'

सुमति—'भाई! आज किसी औरसे पूछ लो, हमें छोड़ो।'

शान्तिदेवीने कहा, 'अब तुम अपना गृहकार्य करो, मैं भी अपने घर जाती हूँ। आज तो ऐसी बातोंमें बैठी कि घरको बिलकुल ही भूल गयी। घरपर सब काम करना है। सुमति! तुम भी उठो और काम करो, मैं भी जाती हूँ।'

सुमति—'अभी तो आप ऐसी उत्तम चर्चा कर रही थीं, अब फिर वही जंजाल सामने आ गया।'

शान्तिदेवी—'इन कामोंसे घबराओ मत, इन्हें जंजाल मत मानो।' गीताके इस वचनको याद रखो। देखो, भगवान् कहते हैं—

'हे अर्जुन! तू इन्द्रियोंके अधीन न होकर मन और शरीरको वशमें करके भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये अपना कर्तव्यकर्म कर। इस प्रकार निष्कामभावसे भगवान्‌के लिये कर्म करनेवाला पुरुष सहजमें ही परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

'हे सुमति! जनक, भगीरथ आदि राजर्षियोंने तो कर्म करते-करते ही परमपद प्राप्त किया था। इसलिये तुम्हें भी लोकहितपर दृष्टि रखते हुए भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये सब काम सुचारुरूपसे करना चाहिये। कर्ममें आसक्ति और फलकी इच्छा नहीं रहनी चाहिये। कर्म बुरा नहीं है, बुरी है आसक्ति और कामना। इन्हें छोड़कर कर्म करनेसे कर्म-बन्धन कट जाते हैं। जो कर्तव्यकर्म करनेसे जी चुराता है, भागकर जंगलमें जाना चाहता है, वह वीर नहीं गिना जाता। जो धैर्यपूर्वक गृहकार्य करते हुए अपनेको विषयोंकी ओरसे रोके रहता है, वही सच्चा योगी है। हर एक गृहस्थीको अपना-अपना कर्तव्यकर्म नियमानुसार करना ही चाहिये। बहिन! तुम उठो; मैं भी उठती हूँ। अब जब मिलना होगा तब मनुष्यके धर्म सुनाऊँगी।'

इतना कहकर शान्तिदेवी चली गयीं और सुमति अपने घरके कामोंमें लग गयी। रातको सुमति प्रभुसे प्रार्थना करने लगी—

हाथ जोड़ बन्दन करूँ, धरूँ चरनपर सीस।
ज्ञान भक्ति मोहि दीजिये, परम पुरुष जगदीश॥
दया दृष्टि ऐसी करो, करुनामय श्रीराम।
सब तज तव सुमिरन करूँ, भगवन्! आठों याम॥

नाम तिहारो है हरे! सब मंगलको मूल।
ज्ञान नयन तासों खुले, मिटे सकल भवसूल॥
चित चेतनमय होय मम, चंचलता मिट जाय।
प्रभु अपने निजरूपमें, लीजै मोहि मिलाय॥
प्रेम-अमीरसको मधुर, करूँ पान दिन रैन।
पतित-उधारन हो रहे! कीजै करुना-नैन॥
अन्तर निर्मल कीजिये, हे करुनाकर राम।
प्रभु! तव शीतल छाँह बसि, करूँ सदा बिसराम॥
मगन रहूँ दिन-रात मैं, पी नामामृत सार।
सदा श्रवण करती रहूँ, राम नाम सुखसार॥
मेघनाद, सुमृदंग ध्वनि, ढप सारँगी सितार।
बसी रहे मम श्रवणमें, वीणाकी झंकार॥
शिव-सनकादिक सकल सुर, करें जासु गुनगान।
सो निजपद दिखराय प्रभु, हरहु मोर अज्ञान॥
मो मन-मन्दिरमें जले, ज्ञानदीप भगवान्।
निरखूँ आत्मस्वरूप निज, होय भेद भ्रम हान॥
मैं-तू मम-तव दूर हो, ऊँच-नीच न लखाय।
'मैत्री' करुणा प्रेम सब, चितमें देहु बसाय॥
ज्ञान भक्ति बरदान मैं, माँगू बारम्बार।
और नहीं कुछ चाहिये, करहु नाथ स्वीकार॥

धर्मका रहस्य

एक दिन फिर सौभाग्यसे सुमति और शान्तिदेवीकी भेंट हुई, तब सुमतिने उनसे कहा, 'बहिनजी! उस दिन आपने कहा था कि मैं मनुष्यधर्म बताऊँगी, जिसे जान लेनेपर तुम स्वाभाविक कर्म करने लगोगी और फिर तुम्हें सुख-दुःख स्वरूपसे विचलित भी नहीं कर सकेंगे। आज ईश्वरकी कृपासे फुरसतका दिन है। मुझे यह सब धर्म कृपा करके सुनाइये। बहिनजी! पहले आप मुझे यह बताइये कि धर्म किसे कहते हैं? उस दिन जब मैं अपने एक सम्बन्धीके घर गयी थी तो वहाँ धर्मके सम्बन्धमें बड़ी विचित्र-विचित्र सम्मतियाँ दी जा रही थीं।'

शान्तिदेवी—'तुम मुझे वहाँकी बातें तो सुनाओ।'

सुमति—'जिस समय मैं वहाँ पहुँची, तब उपस्थित सज्जनोंमें धर्मपर ही बातचीत हो रही थी। उनमेंसे एकने कहा,'अजी! इस धर्मने तो हिन्दोस्तानको तबाह कर दिया।' दूसरे साहब बोले, 'औरतें तो समझने लगीं, हम सत्संगमें जरूर जायँगी। हमारा यही धर्म है।' वहाँ नयी-नयी बातें सुनकर आती हैं; फिर घरमें आकर उपदेश करने लगती हैं—'झूठ नहीं बोलना चाहिये, किसीको सताना नहीं चाहिये।' आदि-आदि। भला, उनकी बात मानें तो दुनियामें काम कैसे चले? 'अजब नाकमें दम कर रखा है' तीसरे महाशय बोले, 'अजी, सुनिये तो, मेरी एक भाभी हैं। मैं उनका हाल आपको क्या सुनाऊँ? उनकी लीला और धर्म निराले ही हैं। वे नहाकर धोये हुए कपड़े पहन लेती हैं और कुछ नहीं पहनतीं। एक कुशासन बिछाकर उसपर बैठ जाती हैं, फिर ठाकुरजीको नहलाती, धुलाती, खिलाती और न जाने क्या-क्या करती हैं? जरा-सा कोई छू ले तो कुछ न पूछिये। उनको

फिरसे नहाकर साड़ी बदलनी पड़ती है। अरे भाई! हमारे देशको तो इस पूजा और धर्मने सत्यानाशमें मिला दिया।'

सुमतिने फिर कहा—'बहिन! क्या बताऊँ? एक पुलिसके अफसरने तो ऐसी बात कही कि उसे तो सुनकर मेरा जी घबरा गया! मैं उसे कह नहीं सकती।' उसके बाद एक सज्जन बोल उठे, 'भाई साहब! माफ करना, मैं भी कुछ कहना चाहता हूँ। मेरी बातको ध्यान देकर सुनना। भाइयो! सच्ची बात तो यह है कि जबसे हमारे यहाँ विदेशकी हवा आयी है तभीसे हमारी तबाही शुरू हुई है। अब तो वह हवा इतनी तेज हो गयी है कि उससे पिण्ड छुड़ाना कठिन हो गया है। इस हवाके झोंकेमें पड़े हुए लोगोंमें धर्मको कोई नहीं जानता। धर्म और पूजासे नहीं, दुर्दशा तो हो रही है इस साहबियतसे। हम आज आँख मूँदे हुए बस दूसरोंकी नकलपर उतरे हुए हैं और नकल भी अच्छी बातोंकी नहीं करते। अपने धर्म, अपनी सभ्यता, अपनी रहन-सहन और अपने आचार-विचार, रस्म-रिवाज हमें जरा भी नहीं सुहाते। विदेशके लोग किसी बातमें भी हमारी नकल नहीं करते। परंतु हम तो अपना इसीमें कल्याण समझते हैं। यदि हम धर्मको समझ लें—किसका क्या धर्म है यह जान लें और अपने-अपने धर्मको ठीक-ठिकानेसे विचारें तो हमारी गृहस्थीमें सुख और शान्तिका साम्राज्य हो जाय। एक सेवाधर्मको ही लीजिये। यह मुख्य धर्मोंमेंसे एक है। मगर आजकल मानो सेवाका खयाल ही मनुष्योंके दिलसे निकल गया है। पुत्र-पिताकी, बहू-सासकी, भाई-भाईकी और स्त्री-पतिकी सेवा करना नहीं चाहती। यदि कोई अपना धर्म समझकर सेवा करता है और बड़ोंकी आज्ञामें चलता है, तो उसे ये साहबलोग यह कहकर चिढ़ाते हैं कि 'तुम बुद्धू हो! भोंदू हो!!' अरे भाई! यदि स्त्रियाँ नहाती-धोती हैं,

शुद्ध कपड़े पहनती हैं, ठाकुरजीका पूजन करती हैं और सत्संगमें जाती हैं तो इसमें बुराई क्या है? यह तो मनुष्यका कर्तव्य ही है। हाँ, झूठ बोलना, चोरी करना, बुराई करना और नाहक किसीपर दोष लगाना बुरा है। इन कामोंके करनेमें तो बुराई नहीं मालूम होती, सारी बुराई पूजा-पाठमें ही दीखती है।'

'इसके बाद फिर कोई कुछ न बोला। मैं इन बातोंको बड़े ध्यानसे सुनती रही। अब आप बताइये धर्म क्या है?'

शान्तिदेवी—'प्यारी सुमति! धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म और गहन है, परंतु मैं तुम्हें अपनी बुद्धिके अनुसार वे साधारण धर्म सुनाऊँगी, जिन्हें हम गृहस्थियोंको अवश्य पालना चाहिये। इस धर्मपर मैं तुम्हें एक पुरानी कथा सुनाती हूँ।'

ब्राह्मण और व्याध

एक कौशिक नामका ब्राह्मण था। वह द्विजश्रेष्ठ नित्य वेदोंका पाठ करनेवाला था, तप ही उसका धन था और वह सदा धर्ममें ही लगा रहता था। वह श्रेष्ठ ब्राह्मण उपनिषद् एवं व्याकरण आदि अंगोंके सहित वेदोंका पाठ करता था, जिस वृक्षके नीचे वह रोज तप किया करता था, उसी वृक्षपर बैठे हुए एक पक्षीने एक दिन उसके ऊपर बीट कर दी। बीटके गिरते ही ब्राह्मणको बड़ा क्रोध आया। उसने गुस्सेमें आकर पक्षीकी ओर देखा तो वह तुरन्त तड़फड़ाकर पृथ्वीपर आ गिरा। अपने सामने पक्षीको पड़ा देख उसे बड़ा ही दुःख हुआ और वह पछताने तथा अपनेको धिक्कारने लगा, क्रोधमें आकर मैंने गरीब पक्षीको बिना विचारे भस्म कर दिया। बेचारे पक्षीके लिये तो विचार न होनेके कारण सब कुछ समान ही है। इसीसे वह चाहे जहाँ भोजन कर लेता है और चाहे जहाँ बीट कर देता है। इसमें उसका अपराध ही क्या है? परन्तु मैं तो मनुष्य था। मैंने यह बड़ा अनर्थ किया जो एक निरपराध पक्षीको मार डाला। मोह और क्रोधके वश ही यह अनर्थ हो गया।' इस तरह वह मनमें अनेक प्रकारसे पश्चात्ताप करने लगा। भिक्षाका समय हो गया था। इसलिये वह उठा और सीधा शहरकी ओर चल दिया। एक दरवाजेपर खड़े होकर उसने भिक्षाके लिये आवाज लगायी। आवाज सुनकर ज्यों ही गृहस्वामिनी भिक्षा देनेके लिये चलनेको तैयार हुई त्यों ही उसके पतिदेव आ गये और बोले, 'जल्दी भोजन परोस दो, मुझे एक जरूरी कामसे अभी फिर बाहर जाना है।'

यह सुनकर वह झटपट थाली परोसकर पतिदेवको भोजन कराने लगी। ब्राह्मणने भिक्षाके लिये फिर आवाज लगायी। तब

वह भिक्षा लेकर तुरन्त उसके पास आयी। तब ब्राह्मण देवता कुछ क्रोधमें आकर बोले—'देवी! तुमने मुझे 'खड़े रहो' ऐसा कहकर इतनी देर लगा दी। तुम्हें पहले भिक्षा देनी चाहिये थी या घरके कामोंको निपटाना उचित था?'

ब्राह्मणको क्रोधमें भरे देखकर उस देवीने कहा, 'महाराज! मैं तो पतिदेवकी सेवाको ही सबसे बड़ा कार्य समझती हूँ। उनके किसी काममें देरी न हो जाय, इसका सदा ध्यान रखती हूँ। इस समय वे भूखे थे और उन्हें फिर अभी बाहर जाना था। इसीसे उन्हें भोजन करानेमें लग गयी। आपने देखा, वे कितनी जल्दी खाकर अभी चले गये हैं।'

ब्राह्मण—'यह तो ठीक है। पर गृहस्थको तो अतिथि, अभ्यागत या ब्राह्मणको भोजन कराकर पीछे स्वयं भोजन करना चाहिये।'

स्त्री—'हाँ, मैं यह जानती हूँ; परन्तु महाराज! मैं तो पतिको देवता मानती हूँ और शास्त्रका यह सिद्धान्त भी है कि पहले देवपूजन करके फिर अतिथि आदिका सत्कार करना चाहिये।'

ब्राह्मण—'तू पतिको देवता मानती है, सो ठीक है। परंतु पति-पत्नीका सम्बन्ध लोभ, मोह और सांसारिक विषयोंकी आसक्तिके ही कारण होता है। पतिको देवता मानना स्त्रीका धर्म है। पर याद रख, ब्राह्मण अतिथिका सत्कार पतिसेवासे भी बढ़कर है। तूने ब्राह्मणसेवामें इतनी देर लगायी है—इससे एक तपस्वी ब्राह्मणका बड़ा अपमान हुआ है। क्या तू नहीं जानती कि ब्राह्मण अग्निके समान तेजस्वी होता है?'

स्त्री—'हे तपोधन! कृपाकर क्रोध शान्त कीजिये। मैं जंगलकी चिड़िया नहीं हूँ, जो आपके क्रोधसे जलकर भस्म हो जाऊँगी। मैं खूब जानती हूँ, ब्राह्मणको जितनी जल्दी क्रोध आता

है उतनी ही जल्दी वह शान्त भी हो जाता है। आप मेरे इस अपराधको क्षमा कीजिये और मेरे योग्य जो सेवा हो वह बतलाइये।'

चिड़ियाके भस्म होनेकी बात उसके मुखसे सुनकर ब्राह्मणदेवता बड़े चकित हुए। वे बोले—'देवि! पहले मुझे यह बता कि तुझे जंगलकी चिड़ियाकी बात कैसे मालूम हुई?'

स्त्री—'यह सब पतिसेवाका ही प्रभाव है कि मुझे आपके क्रोधसे पक्षीके मरनेका हाल मालूम हो गया।'

ब्राह्मण—'देवि! इस प्रकार दूरकी बात जान लेना तो बड़े तपका परिणाम है; तूने ऐसा कौन-सा तप किया है, सो मुझे बता?'

स्त्री—'ब्राह्मणदेवता! मैं तो पतिसेवाको ही मुख्य समझती हूँ तथा सास-ससुरकी सेवा करना, हर प्रकार उन्हें प्रसन्न रखना अपना परम कर्तव्य मानती हूँ। मैं हर समय ऐसे ही कार्य करती हूँ, जिससे घरके सब लोग मुझसे प्रसन्न रहें। मैं जानती हूँ जो सबको अपने समान समझता है, जो प्राण-संकट आनेपर भी सत्य ही बोलता है, अपनेसे बड़ोंकी सेवा करता है, स्वयं हानि सहकर भी दूसरोंका नुकसान नहीं करता, किसीके द्वारा सताये जानेपर भी उसे पीड़ा नहीं पहुँचाता, वही सच्चा धर्मात्मा और तपस्वी है। जो जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ, पवित्रहृदय होकर काम-क्रोधको जीते रहता है, देवताओंने उसीको ब्राह्मण कहा है। हे ब्राह्मण! ब्राह्मणका धर्म वेद पढ़ना और वेदके शिक्षानुसार सबको समदृष्टिसे देखना है। जान पड़ता है आप ब्राह्मण होकर भी इसे नहीं जानते। क्रोध तो मनुष्यमात्रका शत्रु है। ब्राह्मणदेवता! आपने तो वेदोंका अध्ययन किया है। आप धर्मशील भी हैं और आपकी चाल-चलन भी अच्छी है; परन्तु मेरे विचारसे आपने

धर्मका असली मर्म नहीं समझा है। आप सिर्फ पढ़ते ही हैं, उसपर अमल नहीं करते। जब आपका व्यवहार शास्त्रके अनुसार होने लगेगा तभी आप सच्चे ब्राह्मण बन सकेंगे। हे ब्राह्मण! यदि आप धर्मका तत्त्व जानना चाहते हैं तो मिथिलापुरीमें जाइये। वहाँ एक धर्मव्याध रहता है, वह आपको मानव-धर्मका उपदेश कर सकता है। मुझे विश्वास है उसके उपदेशसे आपकी समझमें धर्मका रहस्य आ जायगा और उसे जानकर आप ठीक-ठीक कल्याण-मार्गपर चल सकेंगे। आप एक तपस्वी ब्राह्मण हैं और मैं गृहस्थ स्त्री हूँ। यदि मुझसे कुछ अनुचित शब्द निकल गये हों तो कृपा करके क्षमा करें।' इतना कहकर स्त्री ब्राह्मणको प्रणाम करके भीतर चली गयी।

तब ब्राह्मण 'नारायण हरि' कहता हुआ मिथिलाकी ओर चल दिया। वह रास्तेमें सोचता जाता था कि 'धिक्कार है मेरे अभिमानको! मैं जंगलमें रहा, भूख-प्यास तथा गर्मी-सर्दीको भी सहा, किन्तु क्रोध और ब्राह्मणके अभिमानको न जीत सका। हाय! मैंने इतनी आयु यों ही गवाँ दी। धर्मके तत्त्वको न जाना। इस देवीने तो मेरे हृदयमन्दिरमें उजाला कर दिया। अब देखना है वह धर्मव्याध क्या कहता है।'

'बस, इसी उमंगमें जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाता वह मिथिला जा पहुँचा। वहाँ उसने धर्मव्याधका पता पूछा और जब पूछते-पूछते उसके पास पहुँचा तो उसने उसे एक दूकानपर मांस बेचते देखा। यह देखकर वह चुपचाप एक वृक्षके नीचे बैठ गया। जब व्याध अपने कामसे निपटकर दुकान बन्द करके घर जाने लगा तो उसके पास आया और प्रणाम करके कहने लगा, 'ब्राह्मणदेवता! मैं आपका स्वागत करता हूँ। उस गृहदेवीने आपको जिस कामसे

मेरे पास भेजा है, वह सब मैं जानता हूँ। उस सम्बन्धमें मैं अपनी बुद्धिके अनुसार आपसे निवेदन करूँगा। अभी तो मैं यह सोचता हूँ—आप ब्राह्मण हैं, मैं व्याध हूँ। ऐसी अवस्थामें आपका स्वागत किस प्रकार करूँ।'

व्याधकी बात सुनकर ब्राह्मणको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा—'इस व्याधको मेरे यहाँ आनेके कारणका पता कैसे लग गया? इसने उस देवीके साथ हुई मेरी बातोंको कैसे जान लिया?' इस प्रकार आश्चर्यमें डूबा हुआ वह ब्राह्मण उस व्याधके साथ उसके घर जा पहुँचा।

वहाँ पहुँचकर ब्राह्मणने कहा, 'तुम्हारा यह घोर कर्म देखकर मुझे दुःख होता है। तुम इस बुरे कामको छोड़ क्यों नहीं देते? यह घोर कर्म तुम कबसे करते हो?'

व्याध—'हे ब्राह्मण! मेरे बाप-दादा यही काम करते रहे हैं, इसीसे मैं भी यही काम करता हूँ। विधाताने इस कुलमें पैदा करके मेरे लिये जो कर्म नियत कर दिया है, मैं उसीको करता हुआ अपने बूढ़े माता-पिताकी तन-मनसे सेवा करता हूँ। मेरा विश्वास है, इसीमें मेरा कल्याण हो जायगा। मैं सदा सत्य बोलता हूँ, किसीसे द्वेष नहीं करता। जो बन जाता है, दान कर देता हूँ। अपने इष्टदेवका पूजन करके उनका भोग लगाता हूँ। माता-पिता, अतिथि आदिको भोजन कराकर स्वयं खाता हूँ। जो स्वयं खाता हूँ वही नौकरोंको देता हूँ। मैं कभी किसीकी बुराई नहीं करता। जो मुझसे बड़े हैं, उनकी मैं निन्दा नहीं करता। मांस बेचनेका काम करता हूँ सही, परंतु बेईमानी नहीं करता। कभी कम नहीं तौलता। किसीको धोखा नहीं देता। **मैं खुद न तो पशुओंकी हत्या करता हूँ और न मांस ही खाता हूँ।** हे ब्राह्मण! मेरी कोई निन्दा करे या बड़ाई, मैं सबसे एक-सा बर्ताव करता

हूँ। जो किसी समय मुझे अपना शत्रु समझते थे, वे अब मुझे मित्र मानने लगे हैं। जानता हूँ, जो चुपचाप कड़वी बातें सह लेता है, उसके सभी मित्र बन जाते हैं। हे ब्राह्मण! सबको अपने धर्मपर दृढ़ रहना चाहिये। कामसे, क्रोधसे, द्वेषसे, घृणासे धर्म नहीं छोड़ना चाहिये। जो लाभ-हानिमें समचित्त रहता है, धनके अभावमें घबड़ाता नहीं है, प्रशंसा करके दूसरोंको धोखा नहीं देता है, अपनेको धोखा देनेवालोंको भी धोखा न देकर सबकी भलाईमें लगा रहता है और सबसे प्रेम करता है, वही धर्मात्मा है। हे ब्राह्मण! जो लोग यह कहते हैं कि हम धर्म-कर्म कुछ नहीं जानते और धर्म-कर्म करनेवालोंकी दिल्लगी करते हैं, वे ब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मण नहीं हैं। जो मनुष्य पाप करके यह समझे कि मैं पापी नहीं हूँ, मुझे कौन देखता है तो उसे यह याद रखना चाहिये कि उसके हृदयमें बैठा हुआ ईश्वर और उसके तमाम अंगोंमें तथा सारे विश्वमें स्थित देवता उसे देखते हैं। इसलिये हे ब्राह्मण! आप राग-द्वेषको छोड़कर ऐसे काम किया करें जिनसे दूसरोंका लाभ हो। जो मनुष्य अपने दोषोंको न देखता हुआ दूसरे भले आदमियोंकी बुराई या बदनामी करनेपर तुला रहता है, वह एक-न-एक दिन स्वयं ही इस दुनियामें बदनाम होता है। जो मनुष्य सबपर दया करते हैं और जिनका हृदय दयासे भरा है, वे सदा सन्तुष्ट होकर उत्तम मार्गपर चलते हुए भगवान्‌को पा जाते हैं। हे ब्राह्मण! अपनी बुद्धि और विद्याके अनुसार मैंने संक्षेपमें आपको यह ज्ञान सुना दिया। जो मनुष्य शिष्टाचारके पवित्र साधनोंका नित्य पालन करते हैं वे सब कुछ पा सकते हैं। पर शिष्टाचारका पालन करना है बड़ा कठिन।'

ब्राह्मण—'वह शिष्टाचार क्या है?'

व्याध—'यज्ञ, दान, तप, वेद पढ़ना और सत्यपालन,

शिष्टाचार है। जो लोग काम, क्रोध, दम्भ, लोभ और क्रूरताको त्यागकर अपने धर्ममें सन्तुष्ट रहते हैं, उन्हें सत्पुरुष 'शिष्ट' कहते हैं।

'हे ब्राह्मण! गुरुजनोंकी सेवा, सत्यपालन, क्रोधका त्याग और दान देना—ये चार बातें सदा शिष्टाचारमें गिनी जाती हैं। वेदका सार सत्य है, सत्यका सार इन्द्रियोंका दमन है और दमनका सार त्याग है। ये तीनों बातें शिष्टाचार कहाती हैं। मनुष्यको न कभी कुमार्गपर चलना चाहिये और न कुमार्गपर चलनेवालोंका संग करना चाहिये। कुमार्गपर चलनेवालोंका साथी भी पापका भागी होता है और परिणाममें कष्ट पाता है। मनुष्यको उन्हीं महात्माओंका संग करना चाहिये, जो शिष्ट, संयमी, वेदोंके अनुसार कर्म करनेवाले, त्यागी, धर्मशील और सत्यपरायण हैं। उन्हींके हाथमें अपनेको छोड़ देना चाहिये और वे जैसा कहें वैसा ठीक ही करना चाहिये।

'विद्याध्ययन, तीर्थसेवन, क्षमा, सत्य, सरलता और शौच शिष्टाचारके लक्षण हैं। सबकी हितकामना, श्रेष्ठ स्वभाव, सत्त्वगुणमें स्थिति, उत्तम मार्गपर चलना, दूसरोंके लिये धन कमाना, दीनोंपर दया करना, तप करना, हिंसा, द्वेष, निष्ठुरता, द्रोह, अभिमान और काम आदिका त्याग करना—ये सब शिष्ट पुरुषोंके लक्षण हैं। जो शिष्टाचारका पालन करते हैं, वे जन्म-मरणके महान् भयसे छूट जाते हैं। हे द्विजश्रेष्ठ! मैंने जैसा सुना था और मुझे जो मालूम है, वह मैंने आपको सुना दिया।

'भगवन्! सुनिये, जो किसीसे ईर्ष्या नहीं करता और अपने साथ किये गये उपकारोंको नहीं भूलता, वह कल्याण, सुख, धर्म, अर्थ और उत्तम गतिको प्राप्त करता है। इस प्रकार वह धर्मात्मा होता है। धर्मात्मा होनेसे उसका चित्त प्रसन्न रहता है और अपने

मित्रजनोंको संतुष्ट करता हुआ वह इस लोक तथा परलोक दोनोंमें परम आनन्दको प्राप्त होता है। रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श जो पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं, वे उसके वशमें हो जाते हैं। वह उनके वश नहीं होता। यह धर्मका ही फल मानना चाहिये।

'हे ब्राह्मण! मैं इस संसारको नाशवान् मानता हूँ। सारी वासनाओंका त्याग करनेकी कोशिश करता हूँ। मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ऊपर कहे साधनोंमें लगा रहता हूँ। तपसे बढ़कर संसारमें कोई दूसरी वस्तु नहीं है। उस तपकी जड़ शान्ति और इन्द्रियदमन है। जिनमें ये दोनों गुण आ जाते हैं वह इनके द्वारा जो चाहे प्राप्त कर सकता है।'

'द्विजवर! आपको आश्चर्य हो रहा था कि जंगलमें चिड़ियाका जलना उस स्त्रीको कैसे मालूम हुआ। फिर उससे भी अधिक आश्चर्य तब हुआ जब आपकी मुझसे भेंट हुई। परंतु ये तो मामूली बातें हैं। मैं पहले ऊपर कह चुका हूँ—तपसे मनुष्य जो चाहे प्राप्त कर सकता है।

'हे द्विजश्रेष्ठ! इन्द्रियोंके संयम, सत्यपालन और आत्मदान करनेसे मनुष्य अनायास ही परमपदको प्राप्त कर सकता है।'

ब्राह्मण—'हे व्रतशील! इन्द्रियाँ क्या हैं? उनका दमन किस प्रकार करना चाहिये? दमनका फल क्या है? और वह फल मनुष्य किस प्रकार पाता है? इन सबके तत्त्वको मैं जानना चाहता हूँ, कृपाकर मुझसे कहिये।'

व्याध—'हे ब्राह्मण! किसी भी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये पहले मनुष्यका मन उधर झुकता है। उस वस्तुका ज्ञान हो जानेपर मनुष्य उसे पानेकी इच्छा करता है और न मिलनेपर उसे क्रोध आता है। इच्छित वस्तुको प्राप्त करनेके लिये वह यत्न और महान् कार्य प्रारम्भ करता है और जिस रूप और गन्धकी उसे

इच्छा होती है, उसका अभ्यास और सेवन करता है। तब उन चीजोंके ऊपर उसका प्रेम होता है। जो चीजें उससे विरुद्ध होती हैं उनसे द्वेष होता है। वस्तुकी प्राप्ति होनेपर लोभ होता है और लोभसे मोह होता है। जब मनुष्य लोभ, मोह और राग-द्वेषके वशीभूत हो जाता है तब उसकी बुद्धि धर्मसे हटकर पापमें फँस जाती है।'

राग-द्वेषसे प्रेरित होकर वह तीन प्रकारका अधर्म करता है—वह पापकी बात सोचता है, पापकी बात कहता है और पाप-कर्म करता है। पाप-कर्म करता हुआ मनुष्य इस लोकमें दुःख पाता है और परलोकमें नष्ट हो जाता है। जो पापात्मा हैं, उनकी यही दशा होती है।

'अब धर्मसे जो लाभ होते हैं उनको सुनो—जो मनुष्य अपनी बुद्धिसे इन दोषोंको पहलेहीसे देखकर सुख-दुःख दोनोंमें उचित आचरण करनेमें कुशल हैं, साधुजनोंकी सेवा करते हैं, उनकी बुद्धि अच्छा कार्य करनेसे धर्ममें प्रवृत्त होती है। बाहर और भीतरके कर्म करनेके जो साधन हैं, उनको इन्द्रिय कहते हैं। उन्हें असद्विषयोंसे हटाकर सद्विषयोंमें लगाना ही उनका निग्रह करना है और इस निग्रहका फल है—परमपदकी प्राप्ति। हे ब्राह्मणदेव! दया परम धर्म है, क्षमा बहुत बड़ा बल है, आत्माका ज्ञान ही परम ज्ञान है और सत्यसे बढ़कर कल्याणका कोई साधन है नहीं। जो अपना सब काम बिना किसी आज्ञाके बन्धनरहित होकर करता है और अपना सब कुछ त्यागरूप यज्ञमें हवन कर देता है, वही त्यागी है, वही बुद्धिमान् है।'

इस प्रकार व्याधने बहुत-से धर्म बताकर कहा, 'हे द्विजश्रेष्ठ! अब असली तौरपर मैं जिस धर्मका आचरण करता हूँ, उससे

मैंने जो सिद्धि पायी है वह स्वयं चलकर देख लीजिये। उठिये! शीघ्र घरमें अन्दर चलकर मेरे माता-पितासे भेंट कीजिये।'

अन्दर जाकर ब्राह्मणने व्याधके माता-पिताको बैठे देखा। वे उजले और साफ कपड़े पहने हुए थे। व्याधने झुककर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। तब दोनोंने आशीर्वाद देते हुए कहा—'बेटा! उठो, धर्म तुम्हारी रक्षा करे। हम तुम्हारे विशुद्ध व्यवहारसे बहुत प्रसन्न हैं। तुम सपूत हो, तुम्हारा अन्तःकरण पवित्र है। तुमने इष्ट गति, ज्ञान, तप और सद्बुद्धिको प्राप्त किया है। तुम जितेन्द्रिय हो। इस प्रकार मन, वाणी और शरीरसे माता-पिताकी निष्काम सेवा करते देख तुमपर तुम्हारे पितामह और प्रपितामह भी बहुत प्रसन्न हैं। बेटा! परमात्मा तुम्हारी आयु बढ़ावे और तुम सदा सुखी रहो।'

फिर व्याधके पिताने ब्राह्मणसे कहा, 'आप सारी विघ्न-बाधाओंसे रहित होकर यहाँ पधारे हैं न?'

ब्राह्मण—'हाँ! अब इन व्याधके धर्मोपदेशसे अपनेको बाधाओंसे रहित पाता हूँ।'

व्याध—'भगवन्! देखिये, ये जो मेरे माता-पिता हैं, ये ही मेरे सबसे बड़े देवता हैं। जो पूजा देवताओंकी की जाती है, वही मैं इन दोनोंकी करता हूँ। इन्हींको परम पूज्य मानकर फल-फूल आदि जो कुछ बनता है, निवेदन करता हूँ और जैसे भगवान्को स्त्री, पुत्र, धन आदि सर्वस्व समर्पण कर दिया जाता है, वैसे ही मैंने इन्हींकी सेवामें अपना सब कुछ अर्पित कर दिया है। पुत्र और पत्नीसहित मैं इनकी नित्य पूजा करता हूँ और हर बातमें इनकी सुख-सुविधाका ध्यान रखता हूँ। मेरे लिये तो ये ही साक्षात् नारायण हैं।

हे 'द्विजराज! शास्त्रमें पिता-माता, अग्नि, आत्मा और

अपनेको परमार्थका उपदेश करनेवाला—ये पाँच गुरु माने गये हैं। जो मनुष्य सेवा करके इनको प्रसन्न रखता है, वह सदा सुखी रहता है। गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंका यही प्रधान धर्म है। आपने धर्मका त्याग कर दिया है। आप माता-पितासे आज्ञा लिये बिना घर छोड़ आये हैं, वे बेचारे आपके वियोगमें अन्धे हो गये हैं। आपका ऐसा करना उचित नहीं था। अब आप यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो शीघ्र-से-शीघ्र घर जाकर माता-पिताको प्रसन्न कीजिये। यदि आपके माता-पिता दुःखी रहें तो आपका सब करा-धरा व्यर्थ है। मेरी बातपर विश्वास कीजिये और मैं जो कुछ कहूँ वही कीजिये; क्योंकि मैं आपको वही बताऊँगा जिसमें आपका यथार्थ कल्याण समझूँगा। आप अब जल्दी अपने घर जाइये और आलस्य तथा लज्जा छोड़कर माता-पिताको देवता समझकर उनकी सेवा कीजिये; इससे बढ़कर आपके लिये दूसरा धर्म नहीं है।'

इतना सुनकर ब्राह्मणने कहा, 'अहोभाग्य! जो मैं यहाँ आया। आप-जैसे धर्मके बतानेवाले लोग संसारमें दुर्लभ हैं। इस प्रकार धर्मका उपदेश करनेवाले हजारोंमें कोई एक होंगे। आपसे धर्मोपदेश सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। आपने मुझे नरकसे बचा लिया। अब मैं अपने माता-पिताकी सेवा करूँगा।'

शान्तिदेवीसे यह सुन्दर इतिहास सुनकर सुमतिने कहा— 'आपके मुखसे धर्मकी महिमाको सुनकर आश्चर्य होता है।'

शान्तिदेवी—'देखो सुमति! संसारी धर्मको ठीक निभानेसे कैसी सहज रीतिसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरणकी शुद्धिसे हम कैसी सुगमतासे परमार्थपर आगे बढ़ जाते हैं।

लोक और परलोक दोनों ही सुखरूप हो जाते हैं। जो अपने धर्मपर तत्पर रहता है, वह अज्ञान और अहंकारके अँधेरेसे दूर होकर प्रकाशमें पहुँच जाता है और स्वयं भी दूसरोंको प्रकाशमें ले जानेवाला बन जाता है। हे बहिन! धर्मके कारण ही मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें प्रकाश हो जाता है। जो धर्मको अपना साथी बनाता है, उसे यह साथी परम आनन्दकी प्राप्ति सहजहीमें करा देता है। धर्मात्मा पुरुषोंकी बुद्धि, उनका अन्तःकरण विशुद्ध, निर्मल, पवित्र, प्रकाशमय और बलवान् होता है। धर्मात्मा पुरुषके काम दुनियामें प्रायः ठीक होते हैं। इससे उनका चित्त सदा प्रसन्न रहता है और साथियोंको भी प्रसन्न रखता है। धर्मात्मामें भूल-भ्रम नहीं रहते। वह सदा समचित्त होकर काम किया करते हैं। उनका जीवन सत्य, सेवा और प्रेमका स्रोत होता है। धर्मात्मा मनुष्य—स्त्री हो अथवा पुरुष, ज्ञानके प्रकाशसे भरपूर होनेके कारण तत्त्वज्ञानको यथार्थ जानने और बतानेवाले होते हैं। धर्मात्मा पुरुष ही इस लोक और परलोकमें यथार्थ धनवान् माने जाते हैं। धर्मात्मा मनुष्यका धर्म सदा जाग्रत्, स्थायी और रक्षाकारी होता है। धर्मात्माको ही शीघ्र अपने आत्मस्वरूपका यथार्थ अनुभव होता है।

बहिन सुमति! मैंने तुम्हें ये धर्मकी बातें सुनायीं। अब मैं तुम्हें यह बताऊँगी कि जो इस धर्मको छोड़ देते हैं, उन्हें कैसी हानि उठानी पड़ती है।'

धर्मत्यागसे हानि

शान्तिदेवी—'सुमति! तुम तो यह समझ ही गयी होगी कि संसारमें जो मनुष्य अपने धर्मका ठीक-ठीक पालन करता है, उसका अन्तःकरण बड़ी सुगमतासे शुद्ध हो जाता है; फिर वह सहज ही परमार्थ-पथपर आगे बढ़ जाता है। जो लोग धर्ममार्गको छोड़कर मनमाना आचरण करने लगते हैं, उनके लिये आत्माका स्वरूप उसी प्रकार छिप जाता है, जैसे काले बादल छा जानेसे सूर्यमण्डल। उसमें अहंकारकी मात्रा बढ़ जाती है और इस अहंकाररूप अन्धकारके कारण वह अपने मार्गसे भटककर बहुत दूर हो जाता है। अतः बहिन सुमति! यह याद रखो कि माता-पिता अथवा सास-ससुरकी सेवारूप परम धर्मको छोड़ देनेसे किसी भी पुरुष या स्त्रीका सच्चा कल्याण हो नहीं सकता। इस सेवासे जो हटता है, वह धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है और पापमें प्रवृत्त होकर तरह-तरहकी आपत्तियोंमे फँस जाता है।

धर्मको छोड़ देनेसे अन्तःकरण मलिन हो जाता है। उसकी विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। सत्य-असत्य, उचित-अनुचितका विचार वह नहीं कर सकता, इसलिये अपने हित-अहितका ठीक-ठीक निर्णय न कर सकनेके कारण वह अपने कल्याणकी बात भी नहीं सोच सकता। अन्तरात्माकी आवाज सुन करके भी अनसुनी कर देता है। नतीजा यह होता है कि बस, रात-दिन विषयभोगोंकी ओर ही दौड़ता रहता है, विषयके सम्मुख होनेपर वह अपनेको सँभाल नहीं सकता और पशुके समान उसकी ओर खिंचकर उसीमें फँस जानेसे अपना सर्वस्व स्वाहा कर देता है। उसकी सारी शान्ति नष्ट हो जाती है। वह तरह-तरहके बाहरी साधनोंसे ही अपनेको सुखी बनाना चाहता है;

किन्तु इससे उसकी अशान्ति दिनोदिन बढ़ती ही जाती है। विवेकशक्ति नष्ट हो जानेके कारण उसे यह तो सूझता नहीं कि अपने कर्तव्यका तिरस्कार करके मैंने स्वयं ही सारी विपत्ति मोल ली है। धर्मसे हटते ही जीव दुःखोंके सागरमें जा पड़ता है।

बहिन सुमति! तुम अच्छी तरह समझ लो जो गृहस्थी अपने सनातन धर्मको छोड़ देता है, वह तरह-तरहकी बुराइयोंमें फँसकर स्वयं दुःखी रहता है और अपने सम्बन्धियोंको भी दुःखी रखता है। सुख-दुःखके कारण तो शुभ और अशुभ कर्म ही हैं। इसलिये जो दुःखसे छूटना चाहे उसे धर्मको ही अपनाना चाहिये। धर्माचरणके लिये शरीर और मनको भी सबल और स्वस्थ रखनेकी आवश्यकता है। यह भी प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है, इसकी ओरसे लापरवाही करना भी एक प्रकारका अधर्म ही है। मानसिक रोग सहनशीलता और स्वधर्मपालनसे नष्ट होते हैं तथा शारीरिक रोगोंकी शान्ति ओषधि और पथ्य-सेवनसे होती है। देखो सुमति! तुम जो कहती हो कि 'रोग होनेपर मैं दवा नहीं खाऊँगी, सरदी लगनेपर गर्म वस्त्र नहीं पहनूँगी और थोड़ा भोजन करूँगी, बस, इसी प्रकार एक दिन घुल-घुलकर मर जाऊँगी'—सो यह तो तुम्हारी बड़ी भूल है। मरना-जीना हमारे हाथकी बात नहीं है। वह तो प्रारब्धके अधीन है। वस्त्र न पहनने या ओषधि न लेनेसे तो हानि ही होगी। जब शरीर रोगी रहेगा तो दूसरोंकी सेवा करना तो दूर रहा, तुम अपना काम भी नहीं कर सकोगी। बस, स्वयं दुःखी रहोगी और दूसरोंके लिये भार बन जाओगी। विचारो तो सही कि इससे लाभ क्या है? मनुष्यका शरीर तो दूसरोंकी सेवाके लिये ही मिला है। इससे आगेके लिये तो पुण्य-संस्कार पैदा होता ही है, प्रत्यक्षमें भी अपना और दूसरोंका चित्त प्रसन्न ही रहता है। इसलिये संसारकी सेवाके

लिये तुम्हें इस शरीरको स्वस्थ रखना चाहिये। तुम इसे अपना मानकर व्यर्थ ममताकी पोट क्यों बाँधती हो? यह तो संसारकी सेवाके लिये भगवान्‌ने तुम्हें एक साधन दिया है। इसके द्वारा सेवा और स्वधर्मका आचरण करके तुम भगवान्‌को प्राप्त कर सकती हो। ऐसा करनेमें ही इसकी सार्थकता है और तभी तुम अखण्ड आनन्दका अनुभव कर सकती हो।

तुम जो शरीरको त्यागकर सुखी होना चाहती हो, सोचो तो सही 'क्या यह शरीर ही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है? तुम इस शरीरके सुख-दुःखोंको अपना सुख-दुःख क्यों समझती हो? तुम शरीर नहीं हो, तुम तो आत्मा हो और वह आत्मा अजर-अमर एवं सनातन है; उसका किसी प्रकार नाश नहीं हो सकता। वह अखण्ड आनन्दस्वरूप है—सुखका भण्डार है। उसका अनुभव होनेपर ही तुम्हें सच्चे सुखकी प्राप्ति होगी, इसलिये तुम्हें ऐसा आचरण करना चाहिये, जिससे उसका अनुभव हो सके।'

सुमति—'बहिन! मैं इस आनन्दका कब और कैसे अनुभव कर सकूँगी?'

शान्तिदेवी—'सुमति! इसके लिये तो तुम्हें अपने सारे सांसारिक कामोंको धर्मबुद्धिसे करना चाहिये और इस तरह व्यवहार करना चाहिये कि किसीके साथ न तो राग हो न द्वेष।'

सुमति—'काम करते हुए तो कहीं राग, कहीं द्वेष हो ही जाता है, फिर इससे पिण्ड कैसे छूटे?'

शान्तिदेवी—'देखो सुमति! काम करनेमें भी भेद रहता है। एक मनुष्य तो दूकानके मालिककी हैसियतसे काम करता है और दूसरा उसका मुनीम बनकर। मालिक बनकर काम मत करो। अपनेको मुनीम समझो। मालिक अपनी दूकानका सारा काम मुनीमको सौंप देता है। मुनीम खूब परिश्रम और तत्परतासे काम करता है। वह सब

प्रकारके जमा-खर्च और लेन-देनका भी व्यवहार करता है। यथाशक्ति लाभकी ही चेष्टा करता है; परंतु यह सब करते हुए भी उसे भीतरसे नफा-नुकसानकी ओरसे निश्चिन्तता ही रहती है; क्योंकि वह जानता है कि दूकान तो मालिककी है, मैं तो उसका नौकर हूँ। बस, वह मालिककी प्रसन्नताके लिये सारे काम करते हुए भी बेफिक्र रहता है और उस काममें उसकी आसक्ति भी नहीं होती। इस तरह वह अपने धर्मको निभा लेता है। इसी प्रकार तुम भी अपनेको भगवान्‌की सेविका समझो। इस घरके स्वामी वे ही हैं। तुम्हें उन्होंने इसकी सेवाका काम सौंपा है; इसलिये उनकी प्रसन्नताके लिये ही तुम सारे गृहकार्य करो। परमात्मा ही सबका मालिक है। हमारे धर्माधर्मके कार्यको देखने-जाननेवाला भी वही है। घरके काममें सेवाका भाव लेकर लगो; फिर देखोगी कि इसके सुख-दुःख, हानि-लाभमें तुम्हारा चित्त सम रहेगा, शान्त रहेगा और यदि तुम इनमें समान रही हो भगवान् शीघ्र ही प्रसन्न होकर अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान करा देंगे।'

सुमति—'बहिन! यह तो तुमने बड़ी अच्छी बात कही, अब मेरी समझमें यह बात खूब बैठ गयी कि सच्चा सुख भगवान्‌की प्राप्तिमें है और वह निष्कामभावसे अपने धर्मका पालन करनेसे ही हो सकती है। अब कृपा करके धर्मके मुख्य अंगोंका वर्णन करो।'

शान्तिदेवी—यह विषय कुछ लम्बा है। आज मुझे यहाँ बहुत समय लग गया है। घरपर सब लोग राह देखते होंगे। कल मैं भोजनादिसे निवृत्त होकर आऊँगी, तब इस विषयमें चर्चा होगी। आज मैंने जो कुछ कहा है, उसपर मनन करना।'

ऐसा कहकर शान्तिदेवी अपने घर चली गयीं और सुमति भी घरके कामोंमें लग गयी।

धर्मके दस लक्षण

आज जब शान्तिदेवी भोजनादिसे निवृत्त होकर सुमतिके घर पहुँचीं तो उन्होंने सुमतिको पहलेसे ही आजकी बात सुननेके लिये तैयार पाया। आज उसने अपनी दो-चार सहेलियोंको भी शान्तिदेवीका उपदेश सुननेके लिये बुला रखा था। शान्तिदेवीके पहुँचनेपर उन्हें सबने आदरसे बिठाया और फिर नयी आयी हुई बहिनोंके साथ उनका कुशल-प्रश्न हो चुकनेपर सुमतिने पूछा।

सुमति—'हाँ तो बहिनजी! कल जो विषय रह गया था, आज वही आरम्भ होना चाहिये। आप यह बताइये कि मनुष्य धर्माधर्मका निर्णय कैसे कर सकता है और धर्मके मुख्य अंग कौन-कौनसे हैं?'

शान्तिदेवी—'बहिन! धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है। साधारण लोग इसे नहीं समझ सकते। इसलिये शास्त्र और सन्त-महात्मा जो बतलावें उसे ही ठीक रास्ता समझना चाहिये। भिन्न-भिन्न देश, सम्प्रदाय और जातियोंमें जो-जो महात्मा हो गये हैं, उन्होंने अपने अनुभवके आधारपर रचे हुए अपने ग्रन्थोंमें जो-जो बातें बतायी हैं, उन्हींका हमें यथायोग्य पालन करना चाहिये। धर्म क्या है, अधर्म क्या है, इस बातका फैसला वेद करते हैं। परन्तु सभी तो वेद पढ़ नहीं सकते, अतएव जो लोग वेदके अधिकारी नहीं, उन्हें स्मृति, पुराण और रामायणादि सद्ग्रन्थोंसे अपने कर्तव्यका निश्चय करना चाहिये। स्मृतियोंमें मनुस्मृति सबसे प्राचीन और अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। उसमें मनुजीने धर्मके दस मुख्य अंग बताये हैं। वे कहते हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयः शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(६।९२)

अर्थात् 'धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं।' हे सुमति! जिसमें ये लक्षण पाये जायँ, वह पुरुष हो अथवा स्त्री, उच्च वर्णका हो अथवा निम्नश्रेणीका, उसीको धर्मात्मा समझना चाहिये। ऐसा पुरुष सब संकटोंसे छूट जाता है; जो इनका पालन नहीं करते उनकी अधोगति होती है। ये मनुष्यमात्रके साधारण धर्म हैं। इनका सम्बन्ध किसी देश, जाति या सम्प्रदायविशेषसे हो—ऐसी बात नहीं है बल्कि सभी देश, सभी जाति और सभी सम्प्रदायोंके धर्मनिष्ठ पुरुषोंमें किसी-न-किसी रूपमें ये पाये ही जाते हैं। जो व्यक्ति, परिवार, समाज, जाति या देश इनकी उपेक्षा करने लगते हैं, वे दुःखके गढ़ेमें गिर जाते हैं और वहाँ अशान्तिका साम्राज्य हो जाता है। आजकल लोग अपनेको बुद्धिमान् मानकर धर्म और धर्मात्माओंकी हँसी करते हैं तथा दूसरोंको नुकसान पहुँचाने या नीचा दिखानेमें ही अपनी बहादुरी समझते हैं। इसीसे वे सर्वदा ईर्ष्याकी अग्निमें जला करते हैं। उन्हें एक क्षणकी भी शान्ति नहीं मिलती। वे न स्वयं सुखमें रहते हैं, न औरोंको सुखी देखना चाहते हैं। अपनेको जो बुद्धिमान् लगाते हैं, जिन्हें अपनी अकलपर नाज है, ऐसे मनुष्योंके घरमें कहीं सुख-शान्ति देखनेमें नहीं आती। जिधर देखो ईर्ष्या-द्वेषकी आग धाँय-धाँय जल रही है। धर्मको छोड़नेके कारण अमीर-से-अमीर भी दुःखी तथा परेशान हैं और रात-दिन तबाह हैं।

'बहिन! थोड़ा सोचना चाहिये, भला इस संसारकी कौन-सी चीज सदा रहनेवाली है? धन, जन, शरीर, सौन्दर्य और शक्ति किसीका भी तो कलका भरोसा नहीं किया जा सकता। जब जीवको अचानक मृत्यु आकर दबोच लेती है तो किसीके किये कुछ भी नहीं होता तथा जिनके साथ हमने अपना अभिन्न सम्बन्ध जोड़ लिया है,

वे पिता, माता, पति, पुत्र और बन्धु आदि एक क्षणके लिये भी हमारा साथ नहीं दे सकते। बस, एक धर्म ही हमारे साथ जाता है। वही हमारी अधोगतिसे रक्षा करता है। बड़े अचरजकी बात है, हम रात-दिन अपने सम्बन्धी और मित्रोंको बड़ी ऊँची-नीची स्थितियोंमें जाते और कालके गालमें पड़ते देखती हैं, परंतु हमारी आँखें नहीं खुलतीं। हमें याद रखना चाहिये, एक दिन हमें भी इसी रास्ते जाना है और कब जाना है—यह निश्चय नहीं है, इसलिये सर्वदा अपने धर्मपर आरूढ रहकर अन्तिम यात्राके लिये तैयार रहना चाहिये, जिससे ऐसा न हो कि पीछे पछताना पड़े।'

सुमति—'बहिनजी! आप बहुत ठीक कहती हैं। शरीरका कुछ भी भरोसा नहीं है। हमलोग मौतको भूलनेसे ही धर्म और परमात्माको भी भूल जाते हैं और अपनी गढ़ी हुई इन सम्बन्धोंकी छोटी-सी दुनियाको ही सब कुछ समझकर रात-दिन उसीकी सुविधा और स्वार्थोंका चिन्तन करते रहते हैं। अच्छा, अब आपने जो धर्मके दस लक्षण बताये हैं, कृपाकर उनको विस्तारसे समझायें।'

शान्तिदेवी—'सुनो, मैं इनका अलग-अलग वर्णन करती हूँ। इन्हींमें सनातनधर्मका सारा सार आ गया है। यह बड़े कामकी चीज है; इसीलिये तुम सब खूब ध्यान देकर सुनना।

धृति

'धैर्य-धारण, संतोष अथवा सहनशीलताका नाम 'धृति' है। संसारमें तरह-तरहकी आपत्तियाँ आती रहती हैं। साधारण पुरुष उनसे घबड़ाकर अपने कर्तव्यसे गिर जाते हैं, इससे उनकी आपत्तियाँ दूर होनेके बजाय दूनी हो जाती हैं; क्योंकि अपने कर्तव्यसे विमुख होनेपर मनुष्य कहींका नहीं रहता। उसकी दशा ठीक वैसे ही होती है, जैसी राह छूटे हुए राहीकी। वह पग-पगपर दुःखोंका शिकार होता है और मारा-मारा फिरता है, किन्तु जो धृतिमान् पुरुष होते हैं,

उनके साथ कोई कैसा ही बर्ताव करे, धन रहे चाहे लुट जाय, उन्हें आज ही मृत्यु आकर दबा ले अथवा वे बीसियों वर्ष जीवित रहें। किंतु वे कभी धर्ममार्गसे हटते नहीं। देखो, हरिश्चन्द्रने राजासे रंक हो जानेपर भी सत्यका त्याग नहीं किया। युधिष्ठिरने अपना सब कुछ हार जाने और भरी सभामें द्रौपदीके अपमानित होनेपर भी चूँ-तक नहीं की। तरह-तरहसे दुःख दिये जानेपर भी प्रह्लादने रामनाम लेना नहीं छोड़ा। गुरुगोविन्दसिंहके लड़कोंको जिन्दा ही दीवारमें चुनवा दिया गया, मगर उन्होंने मुसलमान होना स्वीकार नहीं किया। सावित्रीने सत्यवान्‌की आयु थोड़े ही दिनकी सुनकर भी किसी अन्य वरको वरण करना अंगीकार नहीं किया। पद्मिनीने सहस्रों राजपूत रमणियोंके साथ अग्निमें कूदकर प्राण समर्पण कर दिये; किन्तु किसी मुसलमानको अपना अंग स्पर्श नहीं करने दिया—ये सब धृतिके ही प्रमाण हैं। जो धैर्यवान् होते हैं, वे ही सच्चे धर्मनिष्ठ हो सकते हैं और वे अपना ही नहीं, अपने दृष्टान्तसे अन्य पुरुषोंको मार्ग दिखाकर उनका भी कल्याण कर देते हैं; इसलिये जो पुरुष धर्ममार्गपर बढ़ना चाहे, उसे सबसे पहले धृतिको धारण करना चाहिये। जीवनमें आनेवाली आपत्तियोंको प्रारब्धका खेल समझकर उन्हें खूब धैर्यके साथ सहना चाहिये। आपत्ति तो प्रारब्धसे आती है और बिना अनुकूल प्रारब्ध हुए वह जायगी नहीं; फिर धैर्य खोकर कायरताको आश्रय क्यों दिया जाय? घबड़ानेसे तो वह और भी अधिक असह्य हो जायगी; इसलिये आपत्तिमें सर्वदा धैर्यसे ही काम लेना चाहिये।

'देखो सुमति! धैर्यकी ही धर्म नींव है। जिसे धैर्य नहीं वह धर्मका आचरण कैसे कर सकेगा? बिना नींवका मकान नहीं होता। इसी प्रकार बिना धैर्यके धर्म नहीं होता। तुम प्रातः-सायं एकान्तमें बैठकर भगवान्‌से प्रार्थना करो कि हमारी चाहे जो भी दशा हो जाय

परन्तु धैर्य न छूटे, भगवान्‌का विश्वास न खो जाय; क्योंकि हर हालतमें भगवान्‌का विश्वास बना रहना ही सच्चा धैर्य है।'

क्षमा

'दूसरा धर्म क्षमा है। अपनेमें पूरी शक्ति होनेपर भी अपना अपकार करनेवालेसे किसी प्रकारका बदला न लेना तथा उस अपकारको प्रसन्नतासे सहन करना 'क्षमा' कहलाता है। हे सुमति! जीव मायासे मोहित होकर अज्ञानसे ही दूसरेका अपकार करता है। परन्तु ऐसे अपकार करनेवालेको जो सहर्ष क्षमा कर देता है, वही क्षमावान् है। अपकार करनेवाला तो दयाका पात्र है। उसपर क्रोध करना कौन-सी बुद्धिमानी है? सुमति! यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि हमें जो कुछ दुःख, अपमान, पीड़ा, हानि अथवा झंझट सहने पड़ते हैं, वे भले ही किसी व्यक्तिविशेषके कारण आते दिखायी दें, परन्तु वास्तवमें तो हमारा प्रारब्ध ही उनका कारण है। दूसरा पुरुष, जो जानकर अथवा बिना जाने, उसका कारण बना है, वह भी हमारे पहलेके कर्मोंके कारण ही है। हमसे अपने पूर्वजन्मोंमें अवश्य उसका कोई अपकार हुआ है, इसीसे इस समय हमारे प्रति उसकी ऐसी प्रवृत्ति हुई है; अतः इस समय यदि हम बदला न लेकर उसके साथ प्रेम और सहानुभूतिका बर्ताव करेंगी तो उसके हृदयका वह मल धुल जायगा और ऐसा करके हम उसका और अपना दोनोंहीका वास्तविक हित कर सकेंगी। लेकिन यदि हम उससे बदला लेनेकी कोशिश करेंगी तो इस समय भी वैरका बीज बो देंगी और आगेके लिये भी बुरे संस्कार साथ ले जायँगी। इसलिये इस जीवनसंग्राममें हमें सर्वदा क्षमाका कवच पहने हुए ही सारे काम करने चाहिये।'

दम

'तीसरा धर्म दम है। दमका साधारण अर्थ तो है इन्द्रियनिग्रह;

परन्तु यहाँ 'दम' का अर्थ मनको वशमें करना है। यह जान रखो सुमति! कि मनको वशमें कर लेनेपर सभी इन्द्रियाँ अपने अधीन जो जाती हैं। इस मनने ही सारा संसार खड़ा कर रखा है और यही जीवको मायाके कठिन बन्धनमें बाँधे हुए है; इसलिये जबतक मनको अपने अधीन नहीं किया जायगा, तबतक परमार्थका कोई भी कांम ठीक न हो सकेगा? जो मनको जीत लेता है, वह सहज ही इस जगत्‌को जीत लेता है। उसपर माया असर नहीं कर सकती, अतः हमें सारा बल लगाकर मनको अपने अधीन करना चाहिये।'

सुमति—'बहिनजी! मन तो बड़ा ही चंचल है। मुझे तो यह बहुत ही नाच नचा रहा है। इसे किस प्रकार वशमें किया जाय? आप इसे जीतनेका सरल साधन बताइये।'

शान्तिदेवी—'सुमति! तुम जो कुछ कह रही हो, ठीक ही है। देखो, यह जीव अनन्त कालसे विषयोंका भोग कर रहा है; इसलिये मनकी स्वाभाविक गति विषयोंकी ही ओर है। चंचल और हठीला तो यह स्वभावसे ही है; इसलिये इसे जीतनेके प्रधान साधन वैराग्य और अभ्यास हैं। वैराग्यसे इसकी विषयासक्ति दूर होगी और अभ्याससे चंचलता मिटेगी? परन्तु सच मानो, विचारका उदय हुए बिना वैराग्य और अभ्यास होगा कैसे? इसलिये मनुष्यका जीवन हमें क्यों मिला, किसलिये मिला, इस बातपर दृष्टि रखकर हर समय इस बातका विचार करते रहना चाहिये कि हमारी जो रात-दिनकी प्रवृत्ति है, वह हमें हमारे लक्ष्यकी ओर ले जानेवाली है या उससे दूर पटक देनेवाली। इस प्रकार अपने लक्ष्य और गतिका बराबर ध्यान रखना चाहिये, ऐसी हालतमें हमारे मनका बाहरकी ओर जो झुकाव है, वह खुद मिट जायगा। एक बड़ी विचित्र बात यह है सुमति! कि मनकी दौड़-धूप, उछल-कूद तभीतक चलती है, जबतक तुम

उसकी ओरसे बेपरवाह हो। जहाँ तुमने मनकी चालको देखना शुरू किया कि इसकी सारी शरारतें खतम हो जाती हैं और यह गऊकी तरह शान्त हो जाता है।

'इसके सिवा एक रामबाण उपाय और भी है; वह है 'भगवन्नाम'। यदि तुम एकनिष्ठ होकर निरन्तर भगवन्नाम-जप करने लगोगी तो स्वतः ही तुम्हारे चित्तकी चंचलता शान्त होने लगेगी। भगवान्‌का जो भी नाम तुम्हें प्रिय लगे उसीका आधार लो, उसीमें मन रमानेकी कोशिश करो। इसके लिये तुम शुरूमें यह विचार मत करो कि जपमें मेरा मन लगता है या नहीं। बिना मन लगे भी निरन्तर जप करनेकी चेष्टा करो। जप करते-करते धीरे-धीरे उसमें मन लगने लगेगा और जहाँ उसमें मन लगना आरम्भ हुआ कि इधर-उधरके विचार स्वयं ही कम होने लगेंगे। हाँ, जितनी देर जप करो, इस बातका ध्यान जरूर रखो कि बीचमें जप छोड़कर मन इधर-उधर तो नहीं भटकता है अथवा निद्रा तो नहीं आ जाती है। आरम्भमें ये दोष भी रहेंगे ही, परंतु यदि तुम जप किये जाओगी तो इनसे छुट्टी मिल जायगी। सुबह-शाम तुम्हें जितना अवकाश मिल सके, उतनी देर तो एक स्थानपर बैठकर एकान्तमें जप करो। बाकी अन्य समयमें चलते-फिरते और घरके काम करते हुए भी मन-ही-मन भगवान्‌का नाम लेती रहो, उनका सुमिरन करती रहो। भगवन्नाम लेनेमें किसी पवित्रता-अपवित्रताका नियम नहीं है। तुम मन-ही-मन तो हर अवस्थामें जप कर सकती हो। हाँ, जप करते समय दो बातोंसे बराबर होशियार रहना—एक तो यह कि कहीं जप करते समय मन विषयचिन्तन तो नहीं कर रहा है और दूसरा यह कि आलस्य या निद्रामें तो तुम नहीं जा पड़ी हो।

इस प्रकार तुम सहजहीमें मनको अपने वश कर सकती हो। सुमति! मनके संयमकी परमार्थमें तो जरूरत है ही, दुनियावी

काममें भी इसकी बड़ी जरूरत है। एक संयमी पुरुष जैसी सफलतासे किसी कार्यको कर सकता है, वैसा चंचल स्वभावका पुरुष नहीं कर सकता। सच पूछो तो मनकी चंचलता ही दुःख है। मानसिक चंचलता जितनी अधिक होती है, उसे उतना ही बड़ा दुःख कहा जाता है तथा जितना ही अधिक मन शान्त-स्थिर होता है, वह उतना ही बड़ा सुख कहा जाता है। सौ बातकी एक बात यह है, जिसका मन चंचल होता है, वह कोई भी काम पूरा कर नहीं सकता। मनकी शान्तिके बिना सुखका स्वाद मिल ही नहीं सकता, इसलिये 'दम' की बहुत अधिक आवश्यकता है, पग-पगपर आवश्यकता है।

अस्तेय

'अस्तेय' चोरी न करनेका नाम है। इसका अर्थ बहुत व्यापक है। साधारणतया दूसरेकी चीजको उसके बिना पूछे ले लेना ही चोरी समझी जाती है, परंतु विचारपूर्वक देखा जाय तो आजकल व्यवहारमें जो तरह-तरहकी चालाकियाँ और धोखेबाजी चल गयी हैं, वे सब भी चोरी ही तो हैं। परंतु उनसे तो बड़े शिष्ट, सम्मानित और सम्पन्न कहलानेवाले भी नहीं चूकते। किसीकी कोई वस्तु चुरा लेना, यह तो सभी जानते हैं कि चोरी है और ऐसी चोरी करनेवालेको दण्ड भी दिया जाता है, लेकिन धर्मकी आड़में कानूनसे बचकर आजकल कितनी चोरियाँ होती हैं, इसको बताना भी मुश्किल है। जान पड़ता है आजकल संसारकी रुचि चोरीकी ओर बढ़ रही है। धर्म और नीतिकी आड़ लेकर जो चोरी की जाती है, वह बड़ी भयानक होती है। इसकी संख्या आजकल बढ़ रही है और तुर्रा यह है कि ये चोरियाँ होशियारीमें गिनी जाती हैं। किसीको किसी भी तरह धोखा देना चोरी ही तो है और आजकल इसीका बाजार गर्म है। कोई चीज दिखाकर उसके बदलेमें दूसरी दे देना, नाप-तोलमें कमी करना,

अपना मतलब निकालनेके लिये किसी भोले खरीदारको धोखा देकर निकम्मी चीज दे देना—ये सब भी तो चोरियाँ ही हैं। आजकल अधिकांश व्यापारियोंकी ऐसी ही नीयत हो जानेके कारण उन्हें तरह-तरहकी आपत्तियाँ घेरे रहती हैं। व्यापारमें जो कुछ नुकसान होता है वह तो होता ही है। विचारना यह चाहिये कि इससे मन कितना मैला हो जाता है। कभी घाटा आता है, कभी डाका पड़ता है, कभी गोदाममें आग लगती है और कभी कोई आसामी फेल हो जानेसे रकम मारी जाती है। यह सब उनकी करनीका फल है, पापसे धन बटोरनेका नतीजा है। जिन लोगोंका व्यवहार शुद्ध होता है, उनका व्यापारिक क्षेत्रमें भी विश्वास और सम्मान होता है तथा ऐसी दैवी आपत्तियोंकी भी प्राय: नौबत नहीं आती और दैवयोगसे आती भी है तो उससे उनका कुछ बिगड़ता नहीं! इसलिये जो यह समझते हैं कि व्यापारमें सचाईसे काम नहीं चलता, वे बड़ी भारी भूलमें हैं। वास्तवमें व्यापारिक सफलताकी सच्ची कुंजी सचाई ही है और इसके द्वारा सांसारिक सम्पत्तिके साथ-साथ ही पारलौकिक समृद्धिकी प्राप्तिका मार्ग भी खुलता जाता है। आज इस बातको भूल जानेसे ही दुनियाभरमें बेईमानीका दौर दौरा है।

'इसके सिवा एक बात और विचारनेकी है। धन पैदा करनेका मतलब यही है कि उससे समाजकी सेवा हो। धनके दो ही उपयोग हो सकते हैं—भोग या दान! इनमें भोग जीवको संसारमें फँसानेवाला, भगवान्‌से दूर करनेवाला और सारी अशान्तियोंका कारण है। और जानती हो सुमति! संसारमें इतनी अशान्ति क्यों है? मैं तुम्हें बतलाती हूँ, सुनो। मनुष्य जितना भी पाता है उसे और पानेका लोभ बना रहता है। सारी फसादकी जड़ यही है। इसलिये धनका सच्चा उपयोग भोग नहीं है। इसका सच्चा उपयोग तो दान ही है। जिस प्रकार राजाका खजाना प्रजाकी जरूरतोंको रफा करनेके लिये ही है,

उसी प्रकार जो धनवान् हैं उनका धन यदि दुनियाकी भलाईमें खर्च होता है तो समझना चाहिये कि सुफल है। जो राजा खजानेको अपने मौज-शौकमें उड़ाता है, वह अन्यायी, अधर्मी और एक प्रकारका चोर ही है। उसी प्रकार जो लोग धन पाकर दान नहीं करते, बल्कि उसे या तो यों ही जमा रखते हैं या भोग-विलासमें खर्च कर डालते हैं, वे भी एक प्रकारकी सामाजिक चोरी ही करते हैं। विचार करके देखो तो सारी सम्पत्तिके स्वामी तो भगवान् ही हैं। हमें तो सदुपयोग करनेके लिये ही सम्पत्ति मिली है। इसलिये हमें या तो उसे मालिककी सेवामें लगा देना चाहिये या मालिकके बताये हुए कामोंमें अतः हमें उसे सामाजिक कार्यों तथा यज्ञ, होम, पूजन, अतिथिसेवा एवं देवतार्चनादि धार्मिक कृत्योंमें ही व्यय करना चाहिये। ऐसा न करके उसे अपने लिये खर्च करना तो ऐसा ही है, जैसे मुनीम अपने कर्तव्यकी परवा न करके मालिककी सम्पत्तिको अपने मौज-शौकमें उड़ा डाले। इसे उसकी चोरीके सिवा और क्या कहा जायगा। सुमति! देखो न, लोग कितने भूलमें हैं और न जाननेके कारण कितना पाप कर रहे हैं। उन्हें मालूम नहीं कि लक्ष्मी विष्णुकी प्रिया हैं और जगत्की माता हैं। उनका जो मनमाना खर्च करता है और भोग-विलासमें लगाता है, वह पाप कर रहा है। अतःअस्तेय धर्मका पालन करनेवालेको ऐसे सब प्रकारके पापोंसे बचे रहना चाहिये।'

शौच

'अब शौचके विषयमें सुनो। शौचका अर्थ है सफाई, पवित्रता। यह दो प्रकारकी होती है—बाहरी और भीतरी। आजकल इस बाहरी सफाईके विषयमें बड़ा भ्रम फैला हुआ है। अधिकांश लोग शुद्धिका अर्थ सफाई करते हैं; परन्तु वे नहीं जानते कि इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। विलायती साबुनसे सफाई तो होती हैः परन्तु शुद्धि नहीं होती, क्योंकि उसमें तो चर्बी आदि अपवित्र वस्तुएँ भी मिली

रहती हैं। बहुत साफ-सुथरे कमरेमें मेज-कुर्सीपर बैठकर नौकरके हाथसे मँगाकर भोजन करनेमें सफाईका खयाल जरूर है, किन्तु इसे पवित्रता नहीं कह सकते। पवित्रता या शौचमें सादगी, संयम, श्रद्धा और सरलताकी प्रधानता रहती है तथा सफाईमें शौकीनी, सौन्दर्य, तड़क-भड़क और दिखावट की। शुद्धि बाह्य होनेपर भी शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारके स्वास्थ्यका कारण होती है तथा सफाई केवल शारीरिक पुष्टिमें ही सहायक होती है। इसमें रजोगुणकी प्रधानता है और उसमें सत्त्वगुणकी। इसलिये भारतीय सभ्यतामें शुद्धि या पवित्रताका ही विशेष मान रहा है। अब विदेशी संसर्ग होनेसे लोगोंकी बुद्धि बहुत बाह्य हो जानेके कारण उन्हें आचार-विचारकी बातें ढकोसला जान पड़ती हैं। इससे वे शौचको सफाईकी कसौटीपर कसने लगे हैं। शरीरको बेसन आदि मलकर धोना, दाँतोंको मंजन, दातौन आदिसे साफ रखना, कपड़े साफ-सुथरे पहनना, सिरमें मैल न बैठने देना, नाखूनोंमें गन्दगी न हो आदि ऐसी बातें हैं, जिनका ध्यान हर आदमीको रखना ही चाहिये।

'यह तो शरीरकी बाह्य शुद्धिकी बात रही है। भीतरी शुद्धि भोजनकी शुद्धिपर निर्भर है। शुद्ध और सात्त्विक शरीर-रचनाके लिये इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि शुद्ध और सात्त्विक पदार्थोंका ही सेवन किया जाय। इसके साथ भावशुद्धिकी भी बड़ी आवश्यकता है। यदि फल, दूध, चावल एवं घृत और सात्त्विक पदार्थ भी ईमानदारीसे कमाये हुए पैसेके न हों तो उससे शुद्ध और सात्त्विक धातु नहीं बन सकते। इसलिये इस बातका विचार रखनेकी भी बहुत बड़ी आवश्यकता है कि हम जिन चीजोंको व्यवहारमें लावें वे न्यायसे कमाये हुए पैसेकी हों। जिन लोगोंका व्यवहार शुद्ध नहीं होता, जो तरह-तरहके छल-कपट और चोरियाँ करके पैसा इकट्ठा करते हैं, यह निश्चय जानो सुमति! कि उनके अन्नसे

साधनमार्गमें कभी प्रगति नहीं हो सकती, क्योंकि जैसा अन्न वैसा मन। इसलिये साधकको इन दोनों ही प्रकारकी शुद्धियोंपर खूब ध्यान रखना चाहिये।

अब मानसिक या आन्तरिक शुद्धिके विषयमें कुछ सुनाती हूँ। आत्माको ब्रह्ममें अर्पण करना ही अन्दरकी सफाई है और सच बात यह है कि जबतक इस हाड़-चामके शरीरमें अहंबुद्धि रहती है तबतक असली शुद्धि हो नहीं सकती। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अभिमान, राग, द्वेष, छल, कपट एवं दम्भादि दुर्गुण चित्तके मल हैं। इन्हें छोड़नेसे ही अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है। इनके मार्जनका प्रधान साधन तो विपरीतरूपसे अभ्यास करना है अर्थात् कामको दूर करनेके लिये ऐसे विचार, संग और साधनोंमें लगा रहे जो उसे दबानेवाले हों। क्रोधको नष्ट करनेके लिये ऐसी परिस्थिति और विचारोंमें रहे, जिससे उसे उभड़नेका अवसर न मिले। इसी प्रकार प्रत्येक दुर्गुणको दबानेकी चेष्टा करे। इसके लिये महर्षि पतंजलिने एक बहुत अच्छा उपाय बताया है। वे कहते हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (यो० सू० १। ३३)

अर्थात् यदि किसी पुरुषको सुखी देखे तो उसके प्रति मित्रताका भाव करे, यदि दुःखी देखे तो करुणा करे, यदि पुण्यवान् देखे तो प्रसन्न हो और यदि पापी देखे तो उपेक्षा करे अर्थात् तटस्थ रहे। ऐसा करनेसे चित्त प्रसन्न हो जाता है। सुखीके प्रति मित्रताका भाव करनेसे ईर्ष्या नहीं होती। दुःखीके प्रति करुणाका भाव करनेसे क्रूरता और स्वार्थपरताकी आदत दूर होती है। पुण्यवान्को देखकर प्रसन्न होनेमें असूया—गुणोंमें दोष ढूँढ़नेकी वृत्ति नष्ट होती है और पापीकी उपेक्षा करनेसे क्रोध, घृणा एवं हिंसारूप दोषोंका नाश होता है।

'हे सुमति! मानसिक दोषोंको जरा-सी भी गुंजाइश नहीं देनी चाहिये। एक बार जब ये आ जाते हैं तो फिर इन्हें भगानेमें बड़ी कठिनाई पड़ती है। इसलिये बराबर होशियार रहना चाहिये। जो बराबर होशियार रहता है और संसारके दोषोंसे अलग रहता है, वही अपने अन्तःकरणको शुद्ध रख सकता है। इस विषयमें महाभारतमें कहा गया है—

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥

अर्थात् 'हे पाण्डुपुत्र! आत्मारूप नदी संयमरूप पवित्र तीर्थवाली है, उसमें सत्यरूप जल भरा हुआ है, उसका शील तट है और दया तरंगें हैं! तुम उसीमें स्नान करो। जलके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं हो सकती।'

अतः धर्मनिष्ठाकी प्राप्तिके लिये शरीरकी बाह्य और आन्तरिक शुद्धिके साथ निरन्तर आत्मनिरीक्षण और सद्विचारकी बहुत बड़ी आवश्यकता है।

'सुमति! तुम शौचके सम्बन्धमें मेरी बात समझ गयी होगी। यह विषय बहुत आवश्यक है, इसलिये कुछ विस्तारसे समझाया है। शरीरको कितना ही धो-पोंछकर क्यों न साफ रखो; यह तो मैला हो ही जाता है, क्योंकि यह बना ही ऐसी चीजोंसे है जो गन्दी हैं। मज्जा, मेद, मांस अस्थि, वीर्य, कफ, पसीना आदि जिन पदार्थोंका समूह इस स्थूल शरीरमें है, उनमेंसे कौन-सी चीज पवित्र है, सोचो तो चमड़ेकी थैलीमें भरे इन गंदे पदार्थोंको जो अपना रूप मानता है, वह तो हमेशा अशुद्ध ही रहेगा। अच्छे-से-अच्छा पदार्थ भी शरीरमें जाकर विष्ठा बन जाता है।

ऐसे शरीरको ही जो 'मैं हूँ'—ऐसा करके मानते हैं, वे शुद्ध कैसे हो सकते हैं? असली शुद्धि तो एकमात्र आत्मज्ञानसे ही होती है।

इन्द्रियनिग्रह

'अच्छा, अब इन्द्रियनिग्रहपर आती हूँ। जीवकी सारी अशान्तिका कारण इन्द्रियोंका असंयम ही है। इस शरीररूप रथका रथी जीव है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। जिसके इन्द्रियरूप घोड़े बुद्धिरूप सारथीके अधीन होते हैं, वही सुखपूर्वक अपने परम लक्ष्यतक जा सकता है। नहीं तो ये घोड़े उद्दण्ड होकर कुपथकी ओर ले जाते हैं और रथको चकनाचूर करके रथी और सारथीको भी नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। इनको वशमें करनेकी सामर्थ्य वस्तुत: बुद्धिमें ही है। जो मनुष्य बुद्धिमानीसे काम लेता है, इन्द्रियोंको प्रत्येक विषयकी प्राप्ति होनेपर उसमें होनेवाले अपने शारीरिक और मानसिक लाभ-हानिका विचार करके उसे ग्रहण या त्याग करता है, वही उनके ऊपर विजय प्राप्त कर सकता है। जिसकी बुद्धिमें विषयोंके प्रलोभनसे बचनेका बल नहीं है, उसे तो न लौकिक सुख ही प्राप्त हो सकता है और न आत्मानन्द ही; इसलिये इन्द्रियोंसे विषय-सेवन करनेसे पहले विवेकवती बुद्धिद्वारा उनसे होनेवाले लाभ-हानिका विचार करना बहुत आवश्यक है। जिस समय भोगकी तरफ इन्द्रियाँ जायँ, उसी समय होशमें आकर मनपर काबू करना चाहिये और बलपूर्वक मनकी गतिको किसी दूसरी दिशामें पलट देना चाहिये।

सुमति! इन्द्रियाँ दस हैं। उनमें कर्ण, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा हस्त, पाद, वाक्, पायु और उपस्थ—ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। जिन कान, नाक आदि शरीरके अंगोंको तुम देखती हो उनका नाम इन्द्रिय नहीं है। ये सब तो स्थूल शरीरके अंग हैं। इनमें रहनेवाली जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन

पाँच विषयोंको ग्रहण करनेवाली शक्तियाँ हैं, वे ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं तथा जो ग्रहण, गति, शब्दोच्चारण, त्याग और आनन्दभोग करनेकी शक्तियाँ हैं, वे कर्मेन्द्रिय कही जाती हैं। इनमें ज्ञानेन्द्रियाँ ही अधिक प्रबल और श्रेष्ठ हैं। वे अपने वशमें हो जायँ तो कर्मेन्द्रियोंकी चंचलता तो स्वयं ही नष्ट हो जायगी। बहिन! ये ज्ञानेन्द्रियाँ ऐसी प्रबल हैं कि इनमेंसे एक-एकके अधीन होनेके कारण ही हरिण, हाथी, पतंग, मछली और भौंरा अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठते हैं। हरिण बाँसुरीकी तानसे मोहित होकर बहेलियाका निशाना बनता है। हाथी नकली हथिनीके स्पर्शसुखकी लालसासे गढ़ेमें गिरता है और जन्मभरको परतन्त्र हो जाता है। पतंग दीपककी शिखाके रूपपर रीझकर उसमें अपने शरीरको जला डालता है। मछली मांसके लोभसे काँटेमें फँसकर मारी जाती है और भौंरा कमलकी गन्धमें मुग्ध होकर रातको उसमें कैद होकर अपने प्राण गँवाता है। जब एक-एक विषयकी आसक्तिका ऐसा बुरा परिणाम होता है तो जो मनुष्य इन पाँचों विषयोंमें आसक्त हैं, उनकी क्या दशा होगी?

इन विषयोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये इनकी असारताका विचार करना चाहिये तथा उनकी आसक्तिसे जो भयंकर दुष्परिणाम होते हैं, उनका भी मनन करनेकी आवश्यकता है। जिस समय चित्त किसी विषयकी ओर जाय, उस समय थोड़ी देर चित्तको शान्त करके उसे चेतावनी देनी चाहिये कि 'अरे मन! तू उसकी ओर क्यों दौड़ता है? वहाँ तुझे जो सुख दिखायी देता है, वह कितनी देरका है! भला जिसके पीछे दुःख और परतन्त्रताके जालमें फँसना पड़े, वह भी कोई सुख है?' ऐसा विचार करनेसे धीरे-धीरे मन विषयोंकी ओर दौड़ना छोड़ देगा। इसके सिवा हर समय भगवान्‌का स्मरण रखना चाहिये और यह याद रखना चाहिये कि वे हमारे सारे कामोंको देखते हैं। वे

सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी हैं। हम अपनी किसी क्रियाको भी उनसे छिपा नहीं सकते और वे ही पूर्ण आनन्दस्वरूप भी हैं; इसलिये इस विषय-तृष्णासे निकलकर हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि हम उनके नित्यानन्दका ही अनुभव कर सकें। हमें निरन्तर भगवन्नामजप और सद्विचारोंका ही मनन करते रहना चाहिये। श्रीगीताजी और रामायणजी आदि सद्ग्रन्थोंका विचार करना चाहिये तथा जहाँतक बन पड़े, सत्पुरुषोंके संगमें रहना चाहिये। सांसारिक विषय, सांसारिक दृश्य और सांसारिक चर्चासे सर्वदा दूर रहना चाहिये। भोजन और रहन-सहनमें भी बहुत सात्त्विकता और सरलता रखनी चाहिये तथा कभी निकम्मा नहीं रहना चाहिये। परमात्मासे नित्यप्रति ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये कि 'प्रभो! इस निःसार विषयासक्तिसे छुड़ाकर मुझे अपने पादपद्मोंके सरस-मकरन्दका मधुकर बना लीजिये, निरन्तर अपने और अपने दासोंके चरणोंकी सन्निधिमें रखिये तथा अपनी अहैतुकी भक्ति दान करके सदाके लिये इन वैषयिक सन्तापोंसे मुक्त कर दीजिये।'

'हे सुमति! इस प्रकार अपनी जीवनचर्याको सात्त्विक और भक्तिमयी रखनेपर इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त की जा सकती है। कुछ योगसम्बन्धी आसन और प्राणायाम भी इन्द्रियनिग्रहमें सहायक हैं, परन्तु सबसे अधिक उपयोगी स्थिरतापूर्वक बैठकर एकाग्रचित्तसे भगवान्‌का ध्यान करना है। यदि तुम इन सब बातोंपर सावधानीसे मनन करके इनके अनुसार आचरण करोगी तो इन चंचल इन्द्रियोंके ऊपर विजय प्राप्त करके सच्चे सुखकी प्राप्ति कर सकोगी? मनको वशमें करनेके जो उपाय मैंने तुम्हें बतलाये हैं वे बड़े कामके हैं और इनसे इन्द्रियनिग्रहमें बड़ी सहायता मिलती है। यह निश्चय जानो, इन साधनोंसे एक दिन तुम अवश्यमेव जितेन्द्रिय हो जाओगी।

धी

धी बुद्धिको कहते हैं। मनुष्यके सारे आचार और विचारका रास्ता बुद्धि ही बतलाती है। बुद्धि जिस ओर ले जाती है, उसी ओर पुरुषको जाना होता है। जैसा करना चाहती है वैसा ही करता है। इन्द्रियनिग्रहके प्रसंगमें मैंने यह बात बतायी थी कि बुद्धि शरीररूप रथका सारथी है, अतः यदि वह सावधान और उचित-अनुचितका विवेचन करनेवाली होगी तो मनुष्यको सन्मार्गपर ले जायगी और यदि प्रमादी और मूढ़ होगी तो कुपथमें ले जाकर न जाने कहाँ पटक दे। इसलिये जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये सद्‌बुद्धिकी बहुत बड़ी आवश्यकता है।

गीताजीमें भगवान्‌ने बुद्धिके तीन भेद करके उनका स्वरूप बतलाया है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(१८।३०—३२)

अर्थात् 'जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय तथा बन्धन और मोक्षको ठीक-ठीक जानती है, वह सात्त्विकी है। जिसके द्वारा पुरुष धर्म और अधर्म तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ रीतिसे नहीं जान पाता, वह राजसी है और जिस बुद्धिसे वह अधर्मको धर्म तथा अन्य सब विषयोंको भी उलटा ही समझता है, वह तामसी बुद्धि है।'

सात्त्विकी बुद्धिद्वारा जीवका कल्याण हो सकता है। यदि

बुद्धि बहुत तेज और गहन-से-गहन विषयोंको भी समझनेवाली हो, परन्तु उसमें सात्त्विकताका अभाव हो तो वह लौकिकी उन्नति और प्रतिष्ठा आदिकी प्राप्ति भले ही करा दे, किन्तु उससे शान्ति, सुख और परमार्थतत्त्वका बोध नहीं हो सकता। इसके लिये तो निर्मल तथा विवेकवती बुद्धिकी ही आवश्यकता है; इसलिये उसको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। आजकलकी दुनियामें बुद्धिमान् शब्दका अर्थ है चलता-पुर्जा अर्थात् जो उल्लू सीधा करना जानता हो, दूसरेको धोखेमें डालकर उसका धन-माल लूट सकता हो और चाहे जिस तरह हो, अपने सुखकी सामग्री और साधन जुटाता हो। परन्तु यह तो राक्षसी बुद्धि है, यह बुद्धि बुद्धि नहीं है। इस ओरसे बहुत होशियार रहना चाहिये। बुद्धि तो वह है जिसमें भगवान्का प्रकाश हो, तो जो शुद्ध हो, सात्त्विकी हो और विवेकवती हो।

विद्या

विद्याका अर्थ ज्ञान है। किन्तु सभी प्रकारका ज्ञान धर्मकी कोटिमें नहीं आ सकता। इसलिये इससे अध्यात्मविद्या ही समझनी चाहिये। गीताजीमें श्रीभगवान्ने इसे अपना ही स्वरूप बताया है—'**अध्यात्मविद्या विद्यानाम्**' (१०। ३२) अर्थात् मैं विद्याओंमें 'अध्यात्मविद्या' हूँ। वस्तुतः इसीके लिये सारे साधन भी हैं। इसलिये यदि इसे परमात्मस्वरूप कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसे पानेपर मनुष्यको अक्षय शान्तिकी प्राप्ति होती है। आजकल विद्या शब्दसे जो भाषाज्ञानादि समझे जाते हैं, वे वस्तुतः विद्याके अन्तर्गत नहीं आते। उसके द्वारा अध्यात्मविद्याकी प्राप्तिमें भी सहायता मिल सकती है। यदि ऐसा न हो तो वह व्यर्थ अभिमान और आलस्य पैदा करनेवाली होनेके कारण हेय ही है। इसके कारण तो

हमारी वृत्तियाँ और भी बिगड़ रही हैं। हम सादगी, सरलता और अपनी संस्कृतिको छोड़कर शौकीनी, भोगवासना और परतन्त्रताके चंगुलमें फँस गये हैं। इसीके दूषित प्रभावके कारण आजकलके नवयुवकोंमें नास्तिकता और धार्मिक विरोधके भाव और न जाने कितने व्यसन बढ़ रहे हैं। इसने उन्हें परमुखापेक्षी और कोरे क्लर्क बनानेके सिवा उनका कोई सच्चा उपकार नहीं किया है। इसलिये हमें उस ब्रह्मविद्याको ही प्राप्त करना चाहिये, जिससे जीवकी सारी अशान्ति मिटकर उसे अक्षय, अखण्ड और नित्य सुखकी प्राप्ति होती है; क्योंकि विद्या वही है जो मुक्तिका द्वार खोल दे।

सत्य

सत्यके साधारण स्वरूपसे सभी परिचित हैं। यही धर्मका वास्तविक स्वरूप है। धर्मका ही नहीं, यदि सूक्ष्मतासे विचारा जाय तो यही स्वयं भगवान्‌का स्वरूप है। वास्तवमें सत्य ही भगवान् है। यह तो सत्यका सूक्ष्मतम स्वरूप है। व्यावहारिक सत्य इसीकी उपलब्धिका साधन है।

'सत्य' शब्दसे साधारणतया सत्यव्यवहार और सत्यभाषण ही लिये जाते हैं। व्यवहारका ही दूसरा नाम सरलता है। जिस व्यवहारमें सरलता नहीं है, दिखावटीपन है, वह लोकमें भले ही चतुरता, कुशलता अथवा किसी और शिष्ट नामसे कहा जाय, किन्तु उससे आध्यात्मिक उन्नतिमें तो बाधा ही आती है। इसलिये सत्यनिष्ठाका व्यवहार बहुत सरल और स्पष्ट होना चाहिये। इसी प्रकार सत्यभाषणमें भी कपट और कटुतासे रहित वाक्य ही सत्यके अन्तर्गत माने जा सकते हैं। जो वाक्य ऊपरसे सत्य प्रतीत होनेपर भी भाव या ध्वनिसे श्रोताको विपरीत अर्थका ही बोध करानेवाले होते हैं, वे

सत्य नहीं कहे जा सकते। इसलिये जो कुछ कहा जाय वह स्पष्टतया वास्तविक स्थितिका बोधक होना चाहिये। इसके विपरीत कुछ ऐसे स्पष्टवादी भी होते हैं, जो अपनी स्पष्टवादिताकी ओटमें आन्तरिक कटुता और उद्दण्डताको ही उगला करते हैं। परन्तु इससे अपनेमें व्यर्थ अभिमान और दूसरोंके हृदयमें द्वेष उत्पन्न होनेके सिवा कोई लाभ नहीं होता। इसीसे शास्त्रकारोंने सत्यभाषणके साथ मीठी वाणीकी भी शर्त लगायी है। वे कहते हैं—**'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्मा ब्रूयात्सत्यमप्रियम्'** अर्थात् सत्य बोलो और मधुर बोलो, कटु सत्य मत बोलो।

इसके सिवा सत्यभाषणमें दूसरेके हित-अहितका विचार रखना भी परम आवश्यक है। जहाँ सत्य बोलनेसे किसीकी हानि होती हो वहाँ या तो मौन हो जाय या स्पष्ट कह दे कि मैं जानता तो हूँ, परन्तु बताऊँगा नहीं। इससे यदि अपनेको कोई हानि भी उठानी पड़े तो उठा ले, परन्तु दूसरेका अहित या असत्य भाषण न होने दे।

'हे सुमति! इस प्रकार सब प्रकारके दोषोंसे बचकर जो सत्य भाषण और सत्य व्यवहार करता है, वह एक दिन अवश्य परमार्थ सत्यस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है तथा इस लोकमें भी सब लोग उसका मान करते हैं। सत्य ही साक्षात् श्रीनारायणजीका स्वरूप है, यह बराबर खयाल रखना।

अक्रोध

अच्छा, अब धर्मका एक ऐसा लक्षण सुनाऊँगी, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वह है अक्रोध। मनुष्यसे जितने पाप बनते हैं, उनमेंसे अधिकांश परिणाममें दुःखदायी और दूषित संस्कार पैदा करनेवाले होनेसे भी हेय हैं। किन्तु यह क्रोध तो आरम्भमें ही उद्वेग पैदा कर देता है। यह पहले जलन पैदा करता है, पीछे प्रकट होता है और पहले उसीको जलाता है जिसे होता है। जिसके प्रति क्रोध होता है

वह यदि क्षमाशील और शान्त प्रकृतिका पुरुष हो तो उसका तो उससे कुछ भी नहीं बिगड़ता। बेचारा क्रोधी पुरुष स्वयं ही जलकर और बलबलाकर रह जाता है। क्रोध एक भूतकी तरह है। जिसपर यह सवार होता है, उसकी विवेकशक्तिको नष्ट कर देता है, वह शिष्टता और शान्तिसे हाथ धो बैठता है तथा उसके सुख और शरीरकी कान्तिका भी नाश हो जाता है। कई बार क्रोधी पुरुष दूसरेकी हिंसा और आत्मघाततक कर बैठते हैं। अतः जो लोग इस दारुण पापके चंगुलमें फँसे हुए हैं, वे कभी सुखी नहीं हो सकते।

क्रोधी मनुष्यको अपनी इच्छाके विरुद्ध बातें सुनने और सहनेकी बिलकुल आदत ही नहीं होती; इसलिये उसके लिये सामाजिक जीवन दुःखमय हो जाता है और वह भी समाजके लिये भाररूप हो जाता है। उसे विचारना चाहिये कि जब मैं सबके मनके अनुकूल नहीं चल सकता तो मुझे ऐसी इच्छा रखनेका ही क्या हक है कि सब लोग मेरे मनके अनुकूल चलें; अतः जिस प्रकार एक बगीचेमें विभिन्न प्रकारके वृक्ष उसकी शोभाको बढ़ानेवाले ही होते हैं; उसी प्रकार मनुष्योंकी विभिन्न प्रकृतियाँ भी इस वैचित्र्यपूर्ण जगत्की शोभा ही हैं। हाँ, यदि हमारे विचारसे कोई बात सब लोगोंके लिये वस्तुतः हितकर हो तो हमें उसे सुझाव अवश्य देना चाहिये, किन्तु यह सब करना चाहिये प्रेम और सहानुभूतिके बलपर, किसी प्रकारकी बरजोरी या हठके बलपर नहीं।

देखो सुमति! आजकल बहुत-से लोग समालोचनाके नामपर दूसरोंको खरी-खोटी सुनानेमें ही अपना गौरव मानते हैं, परन्तु इससे समाजमें असंतोष फैलता है। मान लो कि हमारी दृष्टिसे किसीकी कोई कृति या व्यवहार दोषपूर्ण है तो हमें यह बात उसे ऐसे ढंगसे सुनानी चाहिये, जिससे उसे करनेवालेका जी न दुखे और वह अपनी भूल समझ ले। यदि उसकी

गलती बतलाते हुए हमने उसका जी दुखा दिया तो जान लो वह अपनी भूलपर अड़ जायगा और उसे सुधारनेके बजाय उसीका समर्थन करनेकी चेष्टा करने लगेगा। इस प्रकार व्यर्थ एक सामाजिक कलहकी नींव पड़ जायगी।

कुछ लोगोंका विचार है कि न्याय और व्यवस्थाके लिये क्रोधकी आवश्यकता है और वे इसे तेजस्विता मानते हैं। परन्तु यह उनकी सरासर भूल है। तेजस्वी पुरुषके तो रूप, रंग, शब्द और व्यवहारमें एक विचित्र प्रभाव होता है, जिससे प्रभाविक होकर लोग स्वयं ही उसकी बात मान लेते हैं। लोगोंके हृदयमें उसके प्रति आदर और श्रद्धाका भाव रहता है, भय या घृणाका नहीं, किंतु क्रोधी पुरुषकी तो छायासे भी लोग भागते हैं। जिसे लोग न्याय और व्यवस्था कहते हैं, उसके लिये भी विवेककी सबसे अधिक आवश्यकता है और क्रोधी पुरुषका सबसे पहले विवेक ही नष्ट होता है। अतः क्रोधी पुरुषसे न्याय हो सकेगा, ऐसी आशा करना बड़ी भारी भूल है। उसके द्वारा तो बहुत-से निरपराध पुरुषोंको भी दण्ड ही मिलनेकी सम्भावना है।

जो स्त्री या पुरुष व्यवस्थाके नामपर अपने आश्रितोंको और सेवकोंको बहुत डाँटते-डपटते रहते हैं वे भी भूल ही करते हैं। उनका व्यवहार लोगोंको असह्य हो जाता है और उससे तंग आकर वे या तो उन्हें छोड़ देते हैं या छिपे-छिपे उनका अनिष्ट सोचते रहते हैं। जहाँ आपसके सम्बन्धोंमें इतना भेद पड़ जाता है, वहाँ सुव्यवस्था होनेकी तो स्वप्नमें भी आशा नहीं की जा सकती। ऐसे घर कलहके क्षेत्र हो जाते हैं और कुछ ही दिनोंमें उनकी सारी श्री और ख्याति नष्ट हो जाती है।

सुमति! यह पापी क्रोध तो सब प्रकार त्यागने ही योग्य

है। सबसे अच्छी तरकीब यह है कि जब कभी यह आनेको हो तब चुप हो जाय। बोले ही नहीं। यथासम्भव क्रोधकी क्रिया न होने दे। इससे इसका बल घट जायगा। क्रोध जो करता है, वही अपना सत्यानाश करता है, क्रोध जिसपर किया जाता है, उसका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। ऐसा समझकर यह प्रण कर लेना चाहिये कि मैं क्रोध करके अपने चित्तको क्यों जलाऊँ? जिसपर मैं क्रोध करने चला हूँ वह तो दयाका पात्र है। ऐसे विचारोंसे क्रोध शान्त हो जायगा। इसके सिवा व्यर्थ मद और अभिमानको त्यागकर सर्वत्र भगवत्-बुद्धि करे, क्रोधके दुष्परिणामोंपर विचार करे, क्रोधियोंकी दुर्गति देखे और ऐसा नियम कर ले कि क्रोध आनेपर कम-से-कम एक समय उपवास करूँगा। इसी प्रकार क्रोधको निकालनेका संकल्प रखकर प्रयत्न करनेसे धीरे-धीरे उससे छुटकारा मिल जायगा। गोस्वामी तुलसीदासजीका यह दोहा बराबर याद रखना चाहिये—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

'सुमति! इस प्रकार मैंने तुम्हें मनुजीके बताये हुए धर्मके दस लक्षणोंकी व्याख्या सुनायी। यदि तुम सच्चा सुख प्राप्त करना चाहती हो तो दृढ़तापूर्वक इन्हें धारण करनेकी कोशिश करो। अन्तमें एक बात बताती हूँ। संसारके सारे दोषोंसे छूटने और बड़े-से-बड़े गुणोंको प्राप्त करनेका प्रधान साधन भगवान्‌के अनन्य शरण होना ही है। गीतामें भगवान्‌ने खुले शब्दोंमें कह दिया है कि 'हे अर्जुन! तू सारे धर्मोंको छोड़कर एकमात्र मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सारे पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता न कर।' भला, इससे अधिक

स्पष्ट और क्या बात होगी? बहिन! भगवान् ही सब जीवोंके हृदयमें बैठकर उन्हें कठपुतलीकी तरह नचा रहे हैं, इसलिये किसी भी व्यक्तिकी मनोवृत्तिको बदल देनेमें उन्हें कितनी देर लगेगी। जीव उन्हें अपना प्रेरक न समझकर सारे कर्मोंका अपनेहीको कर्ता मानकर व्यर्थ अभिमान करता है, इसीसे वह तरह-तरहकी बुराइयोंमें फँसा हुआ है। यह अहंकार ही चित्तका सबसे सूक्ष्म मल है। जो इसे भगवान्के चरणोंमें समर्पण कर देता है, वह शुद्धचित्त होकर भगवान्का ही हो जाता है। इसलिये तुम परमानन्दकी प्राप्तिके लिये भगवान्की ही शरण लो और अन्य सारे आश्रयोंको छोड़कर सच्चे हृदयसे उन्हींसे प्रार्थना किया करो, ऐसा करनेसे वे दयामय प्रभु बहुत शीघ्र तुम्हें दुःखोंसे मुक्त कर देंगे।

सुमति! 'बहिनजी आज तो आपने बड़ी अच्छी बातें सुनायीं। आपकी आजकी बातोंसे तो मेरे हृदयमें एक सात्त्विक प्रकाश-सा होने लगा है। अब ऐसी कृपा करो जिससे करुणामय भगवान् शीघ्र ही इसे अपनी अहैतुकी भक्तिदान करके कृतार्थ कर दें।'

शान्तिदेवी—'भगवान् मंगलमय हैं। यदि तुम्हारी सच्ची भावना होगी तो उनके यहाँ कोई देर थोड़े ही है।' अच्छा, आज बहुत समय हो गया है, तुम आजकी बातोंपर विशेष विचार करना। मैं अब जाती हूँ।

इसके पश्चात् शान्तिदेवी अपने घर चली गयीं।

दिव्य संदेश

शान्तिदेवीके चले जानेपर सुमति सोचने लगी—ईश्वर! तुम बड़े दयालु हो। तुमने मेरी पुकार सुन ली। प्रभो! तुम धन्य हो, धन्य हो! तुम्हारी प्रेरणासे बहिन शान्तिदेवीने आकर मेरे हृदयकी दुःखमयी वाणीको बहुत कुछ शान्त कर दिया है। अहा! कैसे प्यारे वचन हैं। मैं सोचती थी कि यदि जीव ईश्वरका अंश है तो मैं दुःखी क्यों हूँ? अब पता लगा कि मेरा स्वरूप तो आनन्द ही है, किंतु मेरी भोगेच्छाने मुझे दुःखी बना रखा है। बहुत सोचती थी कि किसी प्रकारकी इच्छा न किया करूँगी, परन्तु मेरा मन तो विषयोंके साथ मिलकर विषयाकार ही बन गया था और उसने मुझे दुःखके समुद्रमें डुबा रखा था। अब मैं भी शान्तिदेवीके बताये हुए मार्गसे चलनेका प्रयत्न करूँगी। शरीरको जीव-सेवामें और मनको प्रभुके भजनमें लगाऊँगी। हे प्रभु! हे अन्तर्यामी! मेरे चित्तका हाल आपसे कुछ छिपा नहीं है। हे दयालो! दया करके मेरे हृदयसे विषयासक्तिके संकल्पोंको दूर कर दीजिये। अपनी इन्द्रियोंको भोगोंमें जानेसे रोक सकूँ, ऐसी सामर्थ्य दीजिये। मैं मलिन बुद्धिके कारण यह नहीं जानती थी कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है? इसीसे बार-बार कहती थी कि मर जाऊँ तो अच्छा हो। परन्तु नहीं, अब मैं ऐसा न कहूँगी, बल्कि किसी ज्ञानी गुरुकी खोज करूँगी और अपने सुखस्वरूपमें स्थित रहनेका उपाय पूछूँगी। मैं अपने धर्मको न जानकर ही अबतक भटकती रही। अब इस मनुष्यजन्मको सार्थक करूँगी। यदि अपने रूपको पहचानना—अपने स्वरूपको अनुभव करना ही मनुष्य-शरीरका उद्देश्य है, तो मैं अब मरनेकी इच्छा क्यों करूँ? आज ही मौत आ जाय अथवा बहुत दिनोंतक

जीवित रहूँ, इसका चिन्तन ही मैं क्यों करूँ? मुझे तो सब प्रकार स्वरूप-साक्षात्कारका ही प्रयत्न करना चाहिये।

'अहो! मैंने नाना प्रकारकी इच्छाएँ कीं, परंतु ऐसी कौन-सी इच्छा है जो निर्विघ्न पूरी हुई हो। दुःख और सुख—इन दोनोंका कारण इच्छा ही है। मैंने अपने जीवनमें खूब देख लिया कि जो वस्तु चाहती हूँ वह मिल गयी तो मिलनेसे जो सुख होता है, उससे कहीं अधिक उसके कारण दुःख भोगना पड़ता है। दुःखोंसे छुटकारा पानेका एकमात्र साधन तो प्रभो! तुम्हारा स्मरण ही है। अतः ऐसी कृपा कीजिये जिससे मेरा जीवन स्मरणमय बन जाय और राग, द्वेष, ईर्ष्या, दम्भ, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सदाके लिये चित्तसे दूर हो जायँ, जिससे कि इन शत्रुओंके दलको जीतकर मैं अपनी बुद्धिरूपी गुफामें छिपे हुए अपने परम आत्मस्वरूप आपके दर्शन कर सकूँ। मेरे संकल्पोंके आवरणने ही आपको ढँक दिया है। हे नाथ! फाड़ डालो न इस आवरणको। एक बार मेरी बुद्धिरूपी गुफासे निकलकर मेरे सामने प्रत्यक्ष प्रकट हो जाओ।'

सुमति इस प्रकार कातर प्रार्थना कर रही थी कि उसकी आँखें झँप गयीं और इसी समय स्वप्नावस्थामें उसे नीचेसे गानेका सुमधुर स्वर सुनायी दिया। सुमतिने छज्जेपरसे झाँका तो देखा कि ग्यारह दिव्य देवियाँ बड़े सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहने खड़ी हैं और एक सेजपर एक अत्यन्त वृद्ध पुरुष लेटे हैं। वे काषाय-वस्त्र धारण किये हैं। उन्होंने देवियोंको कोई स्तोत्र सुनानेकी आज्ञा दी है और वे मधुर ध्वनिके साथ स्तोत्रगान कर रही हैं। सुमतिके झाँकते ही वृद्ध बाबा खिलखिलाकर हँसने लगे। उनकी हँसीसे आकर्षित होकर सुमति नीचे उतर आयी। उसने बड़ी श्रद्धासे वृद्ध बाबाको नमस्कार किया। वृद्ध बाबाने सुमतिको एक

बड़े सुन्दर चाँदीके कटोरेमें ऊपरतक भरे हुए रुपये भेंट किये। सुमति कुछ कहना चाहती थी कि वे देवियाँ बोल उठीं, 'सुमति! तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है; तुम इस द्रव्यको ले लो। यह अनन्त आनन्दका भण्डार है।' सुमतिने उस धनको लेकर सिर झुकाकर प्रणाम किया। फिर जब आँखें खोलीं तो एक बहुत बड़े मकानके आँगनमें नीचे उतरती हुई सीढ़ियोंपर अपनेको खड़ी पाया। उस समय एक देवीने पीछे उसका आँचल पकड़कर कहा—'सुमति! तुम इन वस्त्र और आभूषणोंको उतार दो। तुम्हें इसी समय चार योद्धाओंसे युद्ध करना होगा। लो, मैं तुम्हें यह वस्त्र देती हूँ, इसे पहन लो!'

देवीके कहनेसे सुमतिने अपने अंगोंपर दृष्टि डाली तो अपनेको दिव्य वस्त्र और आभूषणोंसे सुसज्जित पाया। उसने वे वस्त्र और आभूषण उतार दिये और उस देवीके दिये साधारण वस्त्र पहन लिये।

इतनेमें वह देवी तो न जाने कहाँ चली गयी, उसने अपने सामने घोड़ोंपर सवार हाथमें तलवार लिये चार योद्धा देखे, उन्हें देखकर सुमति हाथ जोड़कर आँखें बंद किये प्रार्थना करने लगी, प्रभो! मुझे इन योद्धाओंसे युद्ध करना है—यह तो उस देवीने बताया, किंतु मैं न तो युद्धविद्या ही जानती हूँ और न मेरे पास कोई शस्त्र ही है। फिर किस प्रकार इनसे युद्ध करूँगी? इसी समय पहली मंजिलकी खिड़की खुली और एक दिव्यस्वरूप देवीने उसे खड्ग देते हुए कहा, 'लो सुमति! इससे तुम इन चारों योद्धाओंको जीत लोगी।'

फिर वह खिड़की बंद हो गयी। अब युद्ध आरम्भ हुआ और बड़ी देरतक होता रहा, अन्तमें सुमतिने चारों ही योद्धाओंको परास्त कर दिया। उसने देखा कि उनकी पीठपर 'काम', 'क्रोध',

'लोभ' और 'मोह'—ये नाम लिखे हैं। फिर सुमतिने अपनी तलवारकी ओर देखा तो उसपर 'वैराग्य' शब्द लिखा हुआ था। युद्ध समाप्त होनेपर सुमतिकी इच्छा हुई कि ऊपर चलकर उन देवीजीके भी दर्शन करूँ। तब उसने सीढ़ियोंपर चौथी मंजिलपर जाकर उनके दर्शन किये। वे समाधि लगाये बैठी थीं। बस, इसी समय सुमतिकी आँखें खुल गयीं। यह सब देखकर सुमतिको बड़ा आश्चर्य हुआ और वह इस देखे हुए दृश्यके विषयमें विचारने लगी, उसके चित्तमें बड़ी प्रसन्नता हुई और वह हर समय आनन्दमग्न रहने लगी, उसे यही निश्चय हो गया कि बिना वैराग्यके काम-क्रोधादि शत्रुओंपर विजय नहीं मिल सकती। इसे भगवान्‌का दिव्य संदेश समझकर उसने सर्वदा वैराग्यमय जीवन व्यतीत करनेका निश्चय कर लिया।

अगले दिन

दूसरे दिन जब शान्तिदेवी सुमतिके घर आयीं तो उन्होंने कहा—'सुमति! तुमने विचारा कि इस संसारमें सुखी जीवन बनानेके क्या उपाय हैं? क्या तुमने उन दुर्गुणोंकी जड़को पहचाना, जिन्होंने मानव-जीवनको दु:खमय बना रखा है?'

सुमति—'बहिनजी! कल आपके घर जानेपर मैं यह विचार कर रही थी कि बाह्य वस्तुओंमें राग करनेसे इच्छाओंका जाल-सा बिछ जाता है। वे सारी इच्छाएँ पूरी तो हो नहीं सकतीं, इसलिये मनुष्यको दु:ख आ घेरता है। जब कामनाओंकी प्रबलता होती है, तो क्रोध भी बढ़ जाता है। लोभ और मोह तो मानो जीवको अंधा कर देते हैं, इसलिये अब मैं इन दुर्गुणोंको दूर करके अपना अन्त:करण शुद्ध करूँगी तथा वैराग्य और अभ्यासके सहारे परमार्थके पथमें बढ़ूँगी। बहिन! मैंने ऐसा निश्चय पहले भी कई बार किया है, परन्तु यह मन ऐसा चंचल है कि विषयोंकी ओर ही खिंच जाता है।'

शान्तिदेवी—'सुमति! मनको वशमें करनेके लिये विषयोंसे दृढ़ वैराग्यकी आवश्यकता है। देखो, दृढ़ वैराग्य होनेके लिये श्रीनारायणस्वामीने कैसी अच्छी युक्ति बतायी है—

दो बातन को याद रख, जो चाहे कल्यान।
नारायण एक मौत को, दूजे श्रीभगवान॥

सुमति! यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहे तो उसे भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये और यह याद रखना चाहिये कि यह शरीर सदा रहनेवाला नहीं है। यदि तुम मृत्युको सामने खड़ी देखोगी तो तुम्हें कोई भी वस्तु लुभा नहीं सकेगी।

सुमति! एक बार हम यात्रा कर रहे थे। रातको एक

डाकबँगलेमें ठहरे। जब खा-पीकर सोने लगे तो बराबरके कमरेसे कुछ बातचीत करनेकी आवाज आयी। ये भी हमारी तरह यात्री ही थे। मैं उनकी बातोंको ध्यानसे सुनने लगी। तुम्हें सुनाती हूँ, ध्यानसे सुनो—

एक यात्री बोला—'भाई! मैं राजकुमार हूँ, सब भाइयोंमें बड़ा हूँ। मुझे निश्चय था कि राज्यका अधिकारी मैं ही हूँ। मेरे चित्तमें बराबर राजसिक विचार उठते रहते थे और मैं दिन-रात यह सोचा करता कि जब मुझे राज्य मिलेगा, तब मैं अन्य राजधानियोंको भी अपने अधीन कर लूँगा, यह कर लूँगा, वह कर लूँगा और एक बड़ा सम्राट् बन जाऊँगा।

एक समय घूमता-घामता एक महात्माके आश्रमकी ओर जा निकला। वहाँ कुछ मनुष्य एकत्रित थे। मैं भी महात्माको प्रणाम करके समीप ही एक ओर जा बैठा। महात्मा बोले—देखो बेटा! लक्ष्मी, जिसके लिये जीव निरंतर उद्विग्न रहता है और रात-दिन जिसके बढ़ानेकी ही धुनमें लगा रहता है, स्वरूपसे चंचला ही है। इसमें मूर्खोंकी ही आस्था होती है। इसका कुछ भी भरोसा नहीं किया जा सकता। आज जो लखपति-करोड़पति हैं, कल ही लक्ष्मी उसे त्याग जाती है। अरे, नाशवान् धनकी आशा करनेवालो! चेतो और उस परम धनकी खोज करो जो सदा तुम्हारे साथ रह सकता है।

इतना सुनते ही मेरे चित्तसे राजसुखकी आशा एकदम निकल गयी और मैंने समय पाकर गुरुदेवकी शरण ली। मेरे गुरुदेव ब्रह्मज्ञानी थे। मेरी जिज्ञासा देखकर उन्होंने उपदेश दिया, जिससे मेरे चित्तको बड़ी शान्ति मिली। अब मैं घर छोड़कर ऐसे ही भ्रमण करता रहता हूँ। मेरे घर छोड़ देनेपर उस राजधानीका क्या हुआ वह भी सुनो। एक दिन ऐसा भूकम्प आया कि महल,

मकान आदि सभी नष्ट-भ्रष्ट हो गये। धन और जायदादकी क्या कहें, बहुत-से स्त्री-पुरुष और बच्चे भी उसमें दबकर नष्ट हो गये। अब तो उस राजधानीका नामोनिशान भी शेष नहीं है।

दूसरा बोला—'धन्य है भाई, तुम्हारे भाग्यको! तुम्हें बड़े ही अच्छे समय महात्माके दर्शन हुए। तुम्हें उत्तम भाग्यसे ही संसारके भोगोंसे वैराग्य हुआ था। इसीसे अब आनन्दमग्न हुए जहाँ-तहाँ घूमते रहते हो। भाई! तुमने लक्ष्मीको जो चंचला बताया सो उसके विषयमें मुझे ऐसा ही अनुभव है। मेरे बाबा दो भाई थे। उनमेंसे स्वयं बाबाजीकी सन्तान तो मेरे ही पिता थे और उनके मैं और मेरी दो बहिनें हुईं। मेरे बाबा और पिता दोनों ही मुझे बाल्यकालमें छोड़कर परलोक सिधार गये। मेरे बाबाके जो दूसरे भाई थे, वे थे तो लखपति, किन्तु दुर्भाग्यसे उनके कोई सन्तान न थी। सम्बन्धियोंने उनसे बहुत कहा कि वह मुझे गोद ले लें, पर मेरी दादीजी इस बातपर राजी नहीं हुईं, क्योंकि वे चाहती थीं कि जो अपनी ही कोखसे सन्तान हो वही उनकी सम्पत्तिकी उत्तराधिकारिणी बने, देवरके पोतेको उनकी सम्पत्ति क्यों मिले? वे इसी आशामें थीं कि कब पुत्रका मुख देखूँ कि अचानक एक दिन कालभगवान्ने आकर बाबाजीका गला दबा दिया और उनके प्राण-पखेरू उड़ गये। अब तो सारे घरमें कुहराम और हाहाकार मच गया। बाबाजीके शरीर छोड़नेका दुःख तो था ही, परन्तु अभी उनका अन्तिम संस्कार भी न होने पाया था कि एक दूसरा ही दुःख उठ खड़ा हुआ। उनकी सम्पत्तिका कोई उत्तराधिकारी न होनेसे (क्योंकि उस समयतक मैं भी अल्पवयस्क था) भाई-बंधुओंने उसपर अपना अधिकार जमाना चाहा। अब तो मेरी दादीजीके ऊपर दुःखका पहाड़ ही टूट पड़ा। उनकी माँ, बहिन और भाई आदि भी उस समय वहीं थे। स्वयं उनकी माताने कुंजियाँ अपने हाथों कर लीं और उन्होंने

बाबाजीका अन्तिम संस्कार कराया। पीछे सारी जमींदारी आदिका हिसाब और धन-आभूषण आदिकी कुंजियाँ उनके भाईके पास रहीं। देखो भाई! इस संसारमें किसीका क्या भरोसा? दादीके सहोदर भाइयोंने उस लाखोंकी जायदादको खाकमें मिला दिया। एक समय था जब मेरी दादीके पास धनकी कुछ भी कमी नहीं थी और वे रानियोंका-सा ठाट-बाट रखती थीं, किन्तु अब बिलकुल दरिद्रका जीवन बिता रही हैं। मुझे एक साहूकारकी दूकानमें नौकरी मिल गयी है, उसीसे सबका किसी प्रकार निर्वाह हो जाता है।'

इतनी बात सुनकर शान्तिदेवीने कहा, बहिन! उन दोनों यात्रियोंने जब यह आपबीती गाथा सुनायी तो उनकी बात सुनकर मेरे मनमें भी वैराग्य हुआ और मेरा चित्त संसारी वस्तुओंसे उपराम हो गया। घरके सब धंधे मैं अब भी करती हूँ, परंतु यह कभी नहीं भूलती कि इस संसारकी किसी भी वस्तुमें स्थायी सुख नहीं है। सब काम उदासीन चित्तसे ही करती हूँ। मुझे किसी भी कर्मसे न बहुत सुख होता है और न विशेष दुःख ही होता है।

'जिस समय मनुष्यको सच्चे वैराग्यकी प्राप्ति हो जाती है, उस समय वह अपनेको बाधाओंसे रहित पाता है और आनन्दमग्न हो जाता है। बहिन! इस विषयमें मैं तुम्हें एक सच्चे त्यागी महात्माकी कथा सुनाती हूँ।

त्यागी महात्मा और राजा

'एक महात्मा जंगलमें रहा करते थे। वे बड़े विरक्त, आत्मज्ञानी और निष्ठावान् थे। एक दिन वे कुटियासे दूर एकान्त स्थानमें बैठ आत्मचिन्तन कर रहे थे कि उसी समय एक राजा हाथीपर सवार हुआ जंगलकी ओर आ निकला। राजाके साथ लाव-लश्कर तो रहता ही है। आगे-आगे घोड़ोंपर सवार चल रहे थे। उनमेंसे एकने रास्तेमें महात्माको बैठे देखकर कहा,

'महाराज! राजा साहब हाथीपर चढ़े हुए इसी ओर आ रहे हैं, आप यहाँसे उठ जाइये।' महात्मा ध्यानमें मग्न थे। उन्होंने कुछ न सुना। जब हलकारेने उन्हें हिलाकर कहा, तब आँखें खोलकर बोले, 'बेटा! क्या माँगते हो?' हलकारेने कहा, 'रास्ता छोड़ दीजिये, राजा साहब आ रहे हैं।'

महात्माने कहा—'यह तो रास्ता नहीं है। तुम सवारी रास्तेसे ले जाओ।' जब सवारीको रुके देर हो गयी, तब राजाने पूछा, 'सवारी क्यों रुकी है?' हलकारेने कहा—'अन्नदाता! बीचमें एक महात्मा बैठे हैं। वे रास्ता नहीं छोड़ते। कहते हैं, सवारी रास्तेसे ले जाओ।'

इतना सुनकर राजा हाथीसे उतरकर महात्माके पास आया। उसने हाथ जोड़कर दण्डवत् किया और उनके सामने खड़ा हो गया।

महात्मा—'कहो राजन्! क्या चाहते हो?'

राजा—'मैं शान्ति चाहता हूँ। मुझ दीनपर आज ईश्वरने बड़ी कृपा की है जो आपके दर्शन हुए। अब आप मेरे साथ महलोंमें पधारकर मुझे शान्तिका उपाय बतलाइये।'

महात्मा—'राजन्! यदि शान्ति चाहते हो तो रागको छोड़ दो।'

राजा—'महाराज! आप मेरे साथ महलोंमें चलिये, वहाँ आपके आज्ञानुसार मैं सब प्रकारकी सुविधा कर दूँगा। आपको किसी प्रकारका कष्ट न होगा।'

महात्मा—'नहीं राजन्! हमारे लिये तो जंगल और बस्ती समान है। हमें यहाँ क्या कष्ट होगा? कष्टका मूल तो स्पृहा ही है।'

इस प्रकार महात्माजीके बहुत समझानेपर भी राजाको उनके कथनपर विश्वास न हुआ। उसने सोचा, अभी इस भोले साधुको महलोंके सुखका क्या पता? इसीसे इतना वैराग्य प्रकट कर रहा

है। जिस समय ये राजसी भोग मिलेंगे तब सारी निःस्पृहता धरी रह जायगी। इसलिये उसने आग्रह करते हुए महात्मासे फिर कहा—'जब आपके लिये जंगल और बस्ती बराबर ही है तब मेरे साथ चलनेमें कोई आपत्ति भी क्यों होनी चाहिये? इस प्रकार जब राजाने बहुत आग्रह किया तब महात्मा उसके साथ चलनेको तैयार हो गये। उनके शुद्ध अन्तःकरणमें राजाके कल्याणका संकल्प जाग्रत् हो गया और वे राजाके साथ ही उसके हाथीपर सवार होकर महलोंकी ओर चल दिये।

'राजाने बनावटी श्रद्धा प्रकट करते हुए कहा, 'भगवन्! मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो आप राजधानीमें चलकर वहाँकी भूमिको पवित्र करेंगे।' इस तरह ऊपरसे अपने सौभाग्यकी सराहना करते हुए वह मन-ही-मन सोचने लगा, 'अब मैं इस महात्माकी अच्छी तरह सेवा-सत्कार करूँगा। जिन राजसी सुखोंको मैं भोगता हूँ, उन्हींसे इसका भी सत्कार करूँगा, तब इसके वैराग्यका ठीक-ठीक पता लग जायगा।' फिर महात्मासे बोला, 'आपको इस जंगलमें बड़ा कष्ट होता होगा। गर्मी-सर्दीके समय आप क्या प्रबन्ध करते होंगे? यहाँकी गर्मी-सर्दी और बरसातको किस प्रकार सहन करते होंगे?' इस प्रकार बातें करते-करते महलका फाटक आ गया। दोनों हाथीसे उतरकर भीतर आये। राजा वहाँकी प्रत्येक वस्तुको दिखाकर उसकी उपयोगिता बतलाता जाता था।' 'उसने उनकी उत्कृष्टता प्रकट करते हुए कहा, देखिये 'महाराज! यहाँ गर्मी, वर्षा और शीतका अलग-अलग प्रबन्ध है। यह बात आपके जंगलमें नहीं है। इसीसे मैं कहता था कि जंगलमें बड़ा कष्ट है।' महात्मा आत्मज्ञानी थे। वे मुसकराकर चुप हो गये, कुछ न बोले। किन्तु मन-ही-मन सोचने लगे, राजा अज्ञानी है। बाहरी वस्तुओंको सुखरूप समझता

है और मुझसे शान्तिका उपाय पूछता है। यह बेचारा नहीं जानता कि सुख बाहरी वस्तुओंमें नहीं है, सुखस्वरूप तो आत्मा है।

'राजाने महात्माजीके लिये सब प्रकारके सुखकी सामग्री एकत्रित करा दी। महात्माजी उदासीन चित्तसे सभी भोग भोगते रहे और शान्त-चित्त बने रहे। जब वहाँ रहते-रहते उन्हें बहुत दिन हो गये तो राजाने सोचा, 'अब यदि महात्मासे जंगलमें चलनेको कहूँगा तो ये अवश्य उदास हो जायँगे, क्योंकि वहाँ इन्हें ये सुख कहाँ मिल सकेंगे।' एक दिन वह महात्माजीसे बातें कर रहा था तब उन्होंने कहा, 'अब हमें जाने दो।' तब राजा उन्हें तुरन्त छोड़ आनेको राजी हो गया। किन्तु उस समय भी महात्माजीको प्रसन्नवदन देखकर वह चकित हो गया और सोचने लगा, 'इनके पास ऐसी क्या वस्तु है, जो इन्हें जंगलमें इतना सुखी बनाये रखती है?' फिर उसने सोचा सम्भव है इन्होंने ऊपरी मनसे कह दिया हो, इनका चित्त जानता ही होगा कि जंगलमें बड़ा कष्ट है और यहाँ सब प्रकारका सुख है। अच्छा चलूँ और इनके सवारी आदिका प्रबन्ध कराऊँ। यदि जानेके समय भी इनके मुखपर उदासी न आवे तो जानूँगा कि ये सच्चे त्यागी महात्मा हैं।

'बस, उसने सेवकको सवारी तैयार करनेकी आज्ञा दी और थोड़ी देरमें सवारी तैयार होकर महलके द्वारपर आ गयी। तब राजाने कहा, महाराज! चलिये, चलिये।' महात्माजी तुरन्त चलनेके लिये तैयार हो गये। उस समय भी उनका मुख वैसा ही प्रसन्न और शान्त देखकर राजाने कहा, 'महाराज! मैं तो समझता था कि अब जंगलमें जानेसे आप उदास होंगे, परन्तु देखता हूँ, आपके चित्तमें तनिक भी खेद नहीं है। इससे जान पड़ता है आपके पास कोई ऐसी वस्तु है, जो इन राजसिक भोगोंसे भी अधिक सुखमयी है, जिसके कारण आप जंगल और

महलको एक समान ही समझते हैं। भगवन्! जिसके कारण आप सर्वदा आनन्दमग्न रहते हैं और महल तथा जंगलको समान समझते हैं, क्या वह अलौकिक वस्तु मुझे मिल सकती है?'

'इतना सुनकर महात्मा बोले, हाँ, हाँ, मिल क्यों नहीं सकती? तुम बाहरी वस्तुओंमें सुख समझते हो और मैं जानता हूँ कि वह कहीं बाहरी नहीं, बल्कि मेरा स्वरूप ही है। इसीसे वैराग्यको मैंने अपना सखा बनाया है। जब इस वैराग्यसे तुम्हारी भी मित्रता हो जायगी तब तुम भी मेरी तरह जंगल और महलको समान समझने लगोगे।'

राजाने कहा—'महाराज! कृपा कर मुझे बतलाइये कि वैराग्यका स्वरूप क्या है? और वह मुझे कहाँ मिलेगा? मैं उसे अवश्य अपना मित्र बनाऊँगा। जान पड़ता है, पहले कभी आपके मित्रसे मेरी भेंट नहीं हुई।' यह सुनकर महात्मा खूब हँसे और बोले—'राजन्! तुम ठीक कहते हो। वैराग्य तो प्राय: कष्टके समय दिखायी देता है। सुखी जीव तो मायामें भूले रहते हैं। वास्तवमें बड़भागी तो वे ही जीव हैं, जो स्त्री, पुत्र एवं धन आदि समस्त—संसारी सुख होनेपर भी उन्हें नाशवान् समझकर किसी भी वस्तुमें मन नहीं फँसाते। ऐसे मनुष्य सब भोग भोगते हैं; परन्तु अपने चित्तको उसमें आसक्त नहीं होने देते। वे जानते हैं कि जो सुख किसी अन्य पदार्थसे मिलता है, वह दु:खमें सना हुआ रहता है। इसलिये वे किसी भी वस्तुमें अपने चित्तको नहीं फँसाते। वास्तवमें यही वैराग्यका स्वरूप है। जिसे संसारी भोगोंसे ऐसा दृढ़ वैराग्य हो जाता है, वही सुखी रहता है।

राजा—'क्या गृहस्थ-आश्रममें भी वैराग्य हो सकता है? राज्य करते हुए भी विषयोंसे उपराम हो जाय—यह बात तो समझमें नहीं आती।'

महात्मा—'हाँ, हो क्यों नहीं सकता? अच्छा, यह तो बताओ, आज प्रात:काल जब मैंने तुम्हें बुलाया था तब तुम क्या कर रहे थे?'

राजा—'मैं उस समय भजन कर रहा था।'

महात्मा—'भजन करते समय क्या कह रहे थे?'

राजा—'मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता था कि भगवन्! मेरे शत्रुओंको मुझसे दूर रखिये और ऐसी कृपा कीजिये कि राज्य निष्कण्टक बना रहे। धन, आयु आदि वस्तुओंके लिये तो मैं भगवान्‌से नित्य प्रार्थना करता हूँ।'

महात्मा—'ठीक है, परन्तु राजन्! यह धन और राज्यादि तो न सदा किसीके रहे हैं और न रहेंगे ही। भला यह तो बताओ तुमसे पहले यहाँ कौन राज्य करता था?'

राजा—'मेरे पिताजी।'

महात्मा—'और उनसे पहले?'

राजा—'मेरे पितामह।'

महात्मा—'अच्छा, जब तुम्हारा शरीर छूट जायगा तो कौन राज्य करेगा?'

राजा—'तब मेरा लड़का राज्य करेगा।'

महात्मा—'राजन्! इससे यह तो तुम समझ ही सकते हो कि यह राज्य न सदासे तुम्हारा है और न सदा रहेगा। तब तुम जो इसे 'मेरा राज्य कहते हो यही तुम्हारी अशान्तिका कारण है।' तुम प्रार्थना करते समय भगवान्‌से भगवान्‌को ही माँगा करो। नाशवान् वस्तुओंके लिये प्रार्थना मत किया करो। जो प्रारब्ध, भोग है—दुःख अथवा सुख—वे तो बिना माँगे भी मिलेंगे ही। यदि तुम शान्ति चाहो तो अपने मनको सब ओरसे रोककर केवल परमात्माका ही ध्यान किया करो। किसी संसारी वस्तुको मत माँगो। अपने निज स्वरूपका अनुभव करनेकी तीव्र उत्कण्ठा रखो। तब तुम्हारा मन विषयोंकी ओरसे तथा राज्यभोगसे स्वयं ही हट जायगा। जब सांसारिक इच्छाएँ उठनी बंद हो जायँगी तब

तुम्हारा अन्तःकरण स्वच्छ हो जायगा। फिर मेरी तरह तुम भी निरन्तर आनन्दका अनुभव करने लगोगे।'

इस प्रकार उपदेश करके महात्माजी अपनी कुटीको चले गये तथा राजा उनके आज्ञानुसार भजन करने लगा।

इसके पश्चात् बहुत दिन बीतनेपर राजा फिर उन महात्माजीके पास गया और कहने लगा, 'भगवन् क्या करूँ, अपने मनको किस प्रकार संसारकी ओरसे मोड़ूँ, मुझे तो रात-दिन तरह-तरहकी चिन्ताएँ घेरे रहती हैं। कन्या विवाहयोग्य हो गयी है, उसके योग्य कोई वर नहीं मिलता। राजकुमारोंका राज्यकार्यकी ओर ध्यान ही नहीं है। बस, वे नाच-रंग और आखेट आदि दुर्व्यसनोंमें ही व्यस्त रहते हैं। मुझे उनकी ओरसे बड़ी चिन्ता है। उनका सुधार किस प्रकार होगा, मैं मनको बहुत समझाता हूँ कि तुझे इनसे क्या लेना है, न मालूम किस समय मृत्यु आ जाय, परन्तु नित्य नये-नये संकल्प उठते ही रहते हैं। महाराज! माया बड़ी प्रबल है। कृपया बताइये इसके बन्धनसे कैसे छुटकारा हो? आपके उपदेशसे मैं यह तो समझ गया कि जबतक मेरा मन इन मायावी वस्तुओंसे उपराम नहीं होगा तबतक आत्मतत्त्वको नहीं पा सकूँगा।'

महात्माजी बोले—'राजन्! मोहके कारण ही तुम दुःखी हो रहे हो, तुम्हें मोहने ही भ्रमित कर रखा है। भोगकी कामनाएँ ही तुम्हें, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंमें फँसाती हैं। जब तुम निष्कामकर्म करोगे, अपने प्रत्येक कर्म भगवान्‌को अर्पण कर दोगे तब धीरे-धीरे तुम्हारा चित्त शान्त हो जायगा।'

महात्माजीने इतनी बातें कहीं, परन्तु राजाकी समझमें कुछ भी न बैठा। वह बोला, 'महाराज! हम गृहस्थोंसे यह निभना असम्भव है। आप तो त्यागी हैं, गृहस्थियोंके बन्धनका आपको अनुभव नहीं है।' इसी प्रकार कुछ और बातें करके राजा अपने महलको चला गया।

इसके पीछे वह कभी-कभी महात्माजीकी कुटीपर जाता रहता था। एक दिन उसे आता देख महात्माजी झट-पट एक वृक्षकी डाल पकड़कर लटक गये। राजाने महात्माजीके पास पहुँचकर उन्हें दण्डवत् किया और अपने साथ चलनेके लिये कहा।

महात्मा—राजन्! क्या करूँ इस वृक्षने मुझे बाँध रखा है।'

राजा—'वाह महाराज! यह आपने खूब कहा। यह वृक्ष तो जड़ है, आप चेतनको भला कैसे बाँध सकता है?'

महात्मा—'राजन्! ठीक है, यह वृक्ष तो जड़ है; किन्तु राज्य, धन, महल, सेना तथा पुत्र-कलत्रादि क्या हैं, जिनसे तुम अपनेको बँधा हुआ बताते हो? क्या तुम्हारे संकल्प और कामनाओंने ही तुम्हें इनसे नहीं बाँध रखा है? मुझे वह मायारूप रस्सी तो दिखाओ, जिससे तुम अपनेको बँधा हुआ बताते हो। जैसे मैं इस वृक्षसे बँधा हूँ वैसे ही तुम मायासे बँधे हुए हो। अन्तर केवल इतना है कि तुम अपनेको बँधा हुआ मानते हो और मैं जानता हूँ कि मैं स्वयं ही इसे पकड़े हुए हूँ, यह वृक्ष मुझे नहीं पकड़ सकता। वास्तवमें तो जैसे मैं इससे बँधा हुआ नहीं हूँ वैसे ही तुम अपने गृह अभिजन और राज्यादिसे बँधे हुए नहीं हो। तुमने इन वस्तुओंको स्वयं पकड़ रखा है और स्वयं ही जिस दिन चाहो छोड़ सकते हो।'

महात्माजीका यह सारगर्भित उपदेश सुनते ही राजाकी आँखोंके आगेसे मानो पर्दा हट गया। वह झट हाथीसे उतरकर महात्माजीके चरणोंमें गिर पड़ा और बोला, 'गुरुदेव! धन्य हैं, आपकी जय हो। आपने मुझे मोहके समुद्रसे बाहर निकाल लिया है। अब कृपया महलोंमें पधारकर कुछ दिनतक अपनी पवित्र सन्निधिसे इस दासको कृतार्थ कीजिये।'

राजाका विशेष आग्रह देख महात्माजी उसके साथ राज्यभवनमें चले आये। राजा बड़ी श्रद्धासे उनकी सेवा करने लगा। कुछ

काल बीतनेपर एक दिन उसने कहा, 'भगवन्! मेरा मन पहलेकी अपेक्षा तो कुछ शान्त है; किन्तु अभी संकल्प विकल्पोंका सर्वथा अभाव नहीं हुआ है। कृपया कोई ऐसी युक्ति बताइये जिससे शीघ्र ही पूर्ण शान्ति प्राप्त हो।' महात्माजी बोले, 'अभी तो हम जाते हैं, एक मास पश्चात् तुम्हारे इस प्रश्नका उत्तर देंगे।'

ऐसा कहकर महात्माजी अपनी कुटीपर चले आये। एक मास बीतनेपर राजा उनके पास गया और उनसे अपना पूर्व प्रश्न किया— महात्माजीने कहा, 'राजन्! क्या बताऊँ, अब तुम्हारी केवल सात दिनकी आयु शेष रही है। इस बीचमें तुम्हारी जितनी इच्छा हो भोग भोग लो। अन्तिम दिन मैं तुम्हें उपदेश करूँगा।'

महात्माजीकी बात सुनकर राजाको बड़ी चिन्ता हुई। वह तरह-तरहके विचार करता अपनी राजधानीमें आया और अपने कर्मचारियोंको महात्माजीकी कही हुई बात सुना दी। इससे सर्वत्र बड़ी खलबली मच गयी। सब लोग नाना प्रकारकी सुख-सामग्रियोंसे राजाको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करने लगे; किन्तु उसकी चिन्ता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। मृत्युके भयने उसके सारे सुखको मिट्टी कर दिया और वह दिनोदिन दुर्बल होने लगा। आखिर सातवाँ दिन आ ही गया। आज उसकी व्यग्रताकी सीमा नहीं थी। उसे पल-पलपर मृत्युका खटका लगा हुआ था, अन्तमें उसने मन्त्रीको भेजकर महात्माजीको बुलाया। महात्माजीने उसकी ऐसी दयनीय दशा देखकर बहुत प्रेम प्रकट करते हुए पूछा, 'कहो राजन्! क्या हाल है? इतने दीन, दुःखी और दुर्बल क्यों दिखायी देते हो, मैंने तो तुम्हें इन दिनों खूब भोग भोगनेकी छुट्टी दे रखी थी।'

राजाने कहा, 'भगवन्! भोग भोगनेसे क्या होता है? मेरे चित्तपर तो हर समय मृत्युका भूत सवार रहता था। उसके

कारण मुझे पलभरको भी चैन नहीं और न मुझे भोगोंमें ही कोई आनन्द आता था।'

महात्माजी बोले, 'बस, सात दिन मृत्युका स्मरण रहनेसे ही तुम्हें सारे भोग फीके दिखायी देने लगे। मुझे तो हर समय शरीरकी नश्वरताका स्मरण रहता है। फिर मेरा चित्त किसी वस्तुके लिये कैसे लालायित हो सकता है? जब किसी पदार्थमें सुख दिखायी नहीं देता तो उसे पानेकी इच्छा ही क्यों हो? यह निःस्पृहता ही मुझे संसारके सारे बन्धनोंसे मुक्त रखती है और यही वास्तवमें परम सुख है; कहा भी है—'**आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्**'—किसी वस्तुको पानेकी वासना ही परम दुःख है और वासनाको मिटाना ही परम सुख है। वासनासे ही मोह होता है और मोह ही बन्धन है। इसलिये सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त होनेका सबसे सुलभ साधन मृत्युको याद रखना है। इसका अनुभव करानेके लिये ही मैंने यह युक्ति की थी और आज भी यही बात तुम्हें बतानी भी थी। बस, यदि तुम बन्धनोंसे मुक्त होना चाहते हो तो मृत्युको स्मरण रखते हुए ही सारे काम करो।'

महात्माजीका यह उपदेश सुनकर राजाका सारा भ्रम दूर हो गया। उसने कृतज्ञतापूर्वक उनके चरणोंमें साष्टांग प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोला, 'भगवन्! मैं अबतक बड़े अन्धकारमें था। अब मुझे स्पष्ट जान पड़ता है कि ये सारे भोग केवल देखनेमें ही रमणीय हैं, वास्तवमें इनमें सुख नहीं है। अब मैं इनमें फँसकर अपने जीवनको नष्ट नहीं करना चाहता, मेरी इच्छा राज-पाट छोड़कर एकान्त-सेवन करनेकी है। आप मुझे विरक्त-जीवन व्यतीत करनेकी आज्ञा दीजिये।

महात्माजी बोले, 'राजन्! तुम फिर वही भूल कर रहे हो।

ये पदार्थ तुम्हारा क्या बिगाड़ते हैं? यदि तुम अपने लक्ष्यपर स्थिर रहोगे और 'जगत्के सारे पदार्थ नष्ट होनेवाले हैं, ऐसा जानकर इनसे मोह न करोगे तो फिर जैसा जंगल वैसा महल। जहाँ आसक्ति गयी कि वैराग्य उदय हुआ। बाह्य-त्याग या ग्रहणसे मनुष्यके आध्यात्मिक जीवनका कोई विशेष हानि-लाभ नहीं होता। आवश्यकता तो आन्तरिक त्यागकी ही है। देखो, महाराज जनक राजभोग करते हुए भी पूर्ण विरक्त माने जाते थे। अतः तुम भी उन्हींके आदर्शका अनुसरण करो। तुम किसी भी वस्तुको अपनी मत मानो। तुमने स्वयं ही कहा था कि यह राज्य पहले तुम्हारे पिता और पितामह आदिका था और तुम्हारे पीछे इसपर तुम्हारे पुत्रादिका अधिकार रहेगा। तुम्हें तो यह कुछ दिनके लिये प्रबन्ध करनेको मिला है और इसी प्रकार तुम्हारे पूर्वजोंको भी केवल इसके प्रबन्धका ही अधिकार था। इसके वास्तविक प्रभु तो भगवान् ही हैं, तुम अपनेको उनका कर्मचारी समझकर उनकी आज्ञापालन करते हुए इसका प्रबन्ध करो। यही तुम्हारा कर्तव्य है और कर्तव्यपालन ही मनुष्यके कल्याणका एकमात्र कारण है। देखो, भाई! जिसकी सत्तासे संसारके सारे व्यापार हो रहे हैं, जिसके संकल्पसे यह सारा विश्व खड़ा हुआ है, वह अखिलेश्वर ही जीवोंको भिन्न कार्योंमें नियुक्त करता है। तुम सारे क्रियाकलापमें उसीका हाथ देखते हुए उसीकी खोज करो। वह तुम्हारे हृदयमें विराजमान है। उसका साक्षात्कार करनेपर ही तुम्हें अक्षय शान्ति प्राप्त हो सकती है।

'राजन्! तुम कहते हो कि मायाने मुझे बाँध रखा है, किन्तु हमने आजतक मायाको देखा नहीं है, जरा उसकी सूरत तो दिखाओ। भाई! यह माया-वाया कुछ नहीं है। एकमात्र परमात्मा ही विभिन्न रूपमें सर्वत्र विराजमान है। अपना भ्रम ही माया है

और यह भ्रम ही सारे दु:खोंका कारण है। एक लड़का किसी बड़े कमरेके भीतर खड़ा था। उसने आवाज लगायी, 'माताजी!' इसके उत्तरमें 'माताजी' ऐसी प्रतिध्वनि हुई। लड़केने फिर कहा 'माताजी!' और कमरेसे फिर 'माताजी' ऐसी प्रतिध्वनि हुई। लड़केने समझा कोई दूसरा लड़का मेरी नकल कर रहा है। इससे चिढ़कर वह क्रोधमें भर गया और उसे भला-बुरा कहने लगा। प्रतिध्वनिने उसका भी उत्तर दिया। इससे उसे किसी भूत-प्रेतका सन्देह हुआ और वह डरकर अपनी माताके पास दौड़ा आया। लड़केसे सारी बातें सुनकर माताने कहा, 'बेटा! वहाँ तेरे सिवा और कोई नहीं है, तेरी ही आवाज गूँजकर तेरे कानोंमें पड़ती है।' हे राजन्! इसी प्रकार मनुष्यको बन्धनमें डालनेवाला उसीका संकल्प है। वह स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है तथा अपने ही संकल्पसे स्वर्ग या नरकमें जाता है। जब अपनेको कर्ता-भोक्ता मानता है तो तरह-तरहकी योनियोंमें भटकता रहता है और जब इस प्रकारका अभिमान छोड़कर अपनेको शुद्ध साक्षीमात्र समझता है तो सारे बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार मकड़ी अपने ही मुखसे तन्तु निकालकर उससे जाला बनाती है और फिर उसमें बैठी रहती है, उसी प्रकार जीव अपने ही संकल्पका जाल फैलाकर उसमें बँध जाता है। मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण तो एकमात्र उसका मन ही है। मनका संकल्प ही बन्धन है। जब मन शान्त हो जाता है तो कोई इच्छा नहीं रहती और इच्छाके अभावमें कोई ग्रहण या त्याग नहीं होता। इस प्रकार जब ग्रहण या त्याग ही नहीं रहता तो बन्धन या मोक्ष ही कैसा?

महात्माजीके इस उपदेशसे राजाको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। उसकी सारी अशान्ति दूर हो गयी और वह उनके आदेशानुसार

तटस्थ होकर सारा राज्यकार्य करते हुए भगवद्भजनमें तत्पर रहने लगा। धीरे-धीरे उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी होने लगी और उसने आत्मतत्त्वका साक्षात्कार कर अन्तमें परमपद प्राप्त किया।

इतना सुनकर सुमतिने पूछा—'बहिनजी! मुक्तिके विषयमें लोगोंके कई प्रकारके विचार सुननेमें आते हैं। कोई कहते हैं, मुक्तिसे भी लौटना होता है और कोई उसे नित्य मानते हैं। इस विषयमें आपका जैसा निश्चय हो वह बतानेकी कृपा करें।'

शान्तिदेवी—'सुमति! इस विषयमें बहुत मतभेद है। वास्तवमें तो जो यह नहीं जानते कि ब्रह्म क्या है? आत्मा क्या है? माया किसे कहते हैं? मैं कहाँसे आया हूँ? कैसे संसारबन्धनमें बँध गया? और कर्मफल किसे कहते हैं—वे ही मोक्षको अनित्य मानते हैं। वस्तुतः मोक्ष कोई अवस्था-विशेष नहीं है। वह तो जीवका स्वरूप ही है। वह उसे नित्य प्राप्त है। इसलिये जब विवेक-विचारादि साधनोंद्वारा अज्ञानका नाश हो जाता है तो आत्माको अपने सहज-स्वरूपका बोध हो जाता है। यही उसकी बन्धननिवृत्ति है। जो जिसका स्वरूप होता है, उससे वह कभी च्युत नहीं होता।

सुमति—'इसके लिये मुख्य साधन क्या है?'

शान्तिदेवी—'मोक्षका असली साधन तो आत्मज्ञान ही है। इसके लिये चित्तशुद्धिकी बड़ी आवश्यकता है। चित्त शुद्ध होनेपर अपने हृदयके भीतर ही अपने असली स्वरूपका दर्शन होता है। जिस प्रकार दर्पणमें मुख देखनेके लिये उसे साफ करना आवश्यक है; उसी प्रकार आत्मदर्शनके लिये अन्तःकरणकी सफाईकी आवश्यकता है।' चित्तशुद्धिका प्रधान साधन निष्कामता है। निष्काम पुरुषसे कभी कोई बुरा काम नहीं हो सकता; इसके सिवा मनकी मैल मिटानेके लिये इतनी बातोंका आचरण करना और भी आवश्यकता है—

१. किसीके साथ राग-द्वेष मत करो।

२. यदि तुमसे किसीका कुछ भला हुआ है तो उसे भूल जाओ।

३. दूसरोंके दुःखको अपने ही दुःखके समान समझो।

४. जहाँतक बने तन, मन, धनसे सबकी सेवा करो।

५. किसीकी कोई वस्तु लेनेकी इच्छा मत करो।

६. हर समय परमात्माके किसी भी नामका प्रेमपूर्वक जप किया करो।

७. अपने प्रति क्रोध करनेवालेपर भी क्रोध मत करो। जिस प्रकार वृक्ष पत्थर मारनेपर फल देते हैं, उसी प्रकार अपना अपकार करनेवालेका भी उपकार ही करो। इससे तुम्हारा चित्त शान्त हो जायगा।

८. अपनेसे बड़ोंका सदा आदर करो। सर्वदा मीठी बोली बोलनेका अभ्यास करो। अपनेसे बड़ा हो अथवा छोटा—किसीसे बिगड़कर मत बोलो। मीठी बोलीमें अमृत है। जो मीठी बोली बोलता है, सब जीव उसके अधीन हो जाते हैं और उससे प्रेम करने लगते हैं। प्रेम ही परमात्माका स्वरूप है।

'जो पुरुष इन नियमोंका पालन करता है, उसका हृदय स्वच्छ हो जाता है और उसे सब ठौर परमात्माकी सत्ता अनुभव होने लगती है, फिर उसके लिये इस दुनियाका नकशा ही बदल जाता है। उसके चित्तमें समता आ जाती है। यहाँतक कि सब प्रकारके हानि-लाभ, जीवन-मरण एवं सुख-दुःखमें भी उस समस्वरूप परमात्मतत्त्वकी ही झाँकी होती है।

'सुमति! एक बात और ध्यानमें रखनेकी है। तुम्हारा व्यवहार बराबर सच्चा होना चाहिये। मनमें कुछ और मुखसे कुछ—ऐसा नहीं होना चाहिये। सच पूछो तो हमारे भीतर जैसा भाव होता

है दूसरेपर वैसा ही असर पड़ता है। ऊपरसे हम चाहे जितनी भी चिकनी-चुपड़ी बातें करें, हृदय तो हृदयको परख ही लेता है। इस विषयमें तुम्हें एक कहानी सुनाती हूँ।'

राजा और सेठ

एक राजाकी किसी सेठसे मित्रता थी। सेठ चन्दनका व्यापार करता था। दोनों ही सत्यवादी, धर्मात्मा तथा राग-द्वेषादि दुर्गुणोंसे दूर रहनेवाले थे। दोनोंहीको साधु-सेवा और सत्संगसे विशेष प्रेम था। वे अपने-अपने धर्मको ईश्वराज्ञा समझकर पालन करते थे तथा परस्पर एक-दूसरेके सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख समझकर सर्वदा एक-दूसरेकी सहायता एवं सेवा करनेको तैयार रहते थे। वे अपने प्रेमपूर्ण बर्तावसे एक प्राण दो शरीरकी उक्तिको चरितार्थ कर रहे थे।

एक दिन साहूकारने अपने मुनीमसे पूछा, 'मुनीमजी! आजकल चन्दनके बाजारका क्या हाल है?'

मुनीमने कहा, 'सेठजी! आजकल चन्दनकी बिक्री बहुत थक गयी है। हमारे यहाँ अभी चालीस मन चन्दन गोदाममें पड़ा हुआ है, उसमें घुन लगना आरम्भ हो गया है। यदि इसी प्रकार पड़ा रहा तो उसकी रकम मिट्टीमें मिल जायगी। उसकी निकासीका कोई उपाय समझमें नहीं आता।'

'स्वार्थ बुरा होता है। वह बुरे-से-बुरा संकल्प पैदा कर देता है।' मुनीम तो इतनी बात कहकर चला गया; किन्तु सेठजी उसकी निकासीका उपाय सोचने लगे। सोचते-सोचते उनके चित्तमें यह संकल्प उठा कि यदि राजा मर जाय तो दस मन चन्दन तो अभी बिक जाय। ऐसा संकल्प करते-करते ही वह सो गया। प्रातःकाल उठनेपर भी उसके चित्तमें यही उधेड़-बुन लगी रही।

अब उस विचारका राजापर क्या असर पड़ा सो सुनो। जब सेठ अपने नित्यकर्मसे निवृत्त होकर राजाके पास गया और

यथायोग्य अभिवादन कर उसके साथ बातचीत करने लगा तो उसे देखकर राजाके मनमें बड़ा उद्वेग हुआ और सब दिन तो सेठको देखकर उसे बड़ा आनन्द होता था और उसके प्रति बड़ा अनुराग होता था; किन्तु आज चित्तमें बड़ी बेचैनी थी और बार-बार ऐसी इच्छा होती थी कि इसका मुँह न देखूँ। इस प्रकार भीतरसे दोनोंहीके चित्तोंमें एक-दूसरेके लिये बुरे खयाल आ रहे थे, केवल ऊपरसे दिखाऊ सहानुभूति और प्रेम प्रकट किया जा रहा था। इस दुश्चिन्ताने दोनोंहीको बेचैन कर रखा था।

'थोड़ी देरमें सेठ अपने घर चला गया। तब राजा अपने मनकी बेचैनीका कारण ढूँढ़ने लगा। बहुत सोचनेपर भी उसे कोई कारण दिखायी नहीं दिया। साहूकारने कभी भी जाहिरा तौरपर उसकी कोई बुराई नहीं की थी। आजतक कभी उसका कोई छल-कपटका व्यवहार भी नहीं देखा गया। इस प्रकार जब कुछ भी निश्चय न हुआ तो उसने इस विषयमें साहूकारसे पूछनेका निश्चय किया।'

'दूसरे दिन जब सेठ राजाके पास आया और यथोचित अभिवादनके पश्चात् बैठ गया तो राजाने साफ-साफ अपने मनकी हालत बतलाकर उससे कहा, 'भाई! आजतक तुम्हारे प्रति मेरा कभी कोई कुभाव नहीं हुआ। इस समय जो यह क्षोभ हुआ है उसमें अवश्य तुम्हारी कोई बुरी नीयत ही कारण है।' इसलिये इस समय मेरे प्रति तुम्हारा जो भाव हो उसे स्पष्ट बता दो, नहीं तो ऐसा न हो मेरे हाथसे तुम्हारा कोई नुकसान हो जाय। देखो, सच्ची बात बतानेमें दोनोंका ही हित है।'

साहूकारका राजाके प्रति कोई द्वेष तो था ही नहीं। मनकी मलिनताके कारण लालचसे उसके हृदयमें जो भाव उठा था वह तो उसे भी बुरा ही मालूम होता था। इसलिये उसने राजासे साफ-साफ अपने मनकी बात कह दी। सेठके निष्कपट व्यवहारसे राजाको बड़ी खुशी हुई। उसने अपने मन्त्रीको सारा चन्दन खरीदनेकी आज्ञा

दी और उसने अपने बगीचेमें एक सुन्दर बँगला तैयार कराया। बस, दोनोंका मनोमालिन्य दूर हो गया और दोनोंके हृदयमें फिर पहलेकी तरह एक-दूसरेके प्रति अच्छे भाव रहने लगे।

'बहिन सुमति! इस कहानीसे तुम यह अच्छी तरह समझ गयी होगी कि दूसरोंके दिलमें अपने प्रति बुरे भाव होनेमें बहुत बार हम स्वयं ही कारण होते हैं। यदि हम अपने चित्तको बराबर शान्त और शुद्ध विचारोंसे भरे रखें तो हमारा किसीके प्रति राग-द्वेष होना मुमकिन नहीं। यदि कभी हमारे चित्तमें बुरे विचारोंका अंकुर उठे तो उसका कारण ढूँढ़कर उसे जल्दी-से-जल्दी उखाड़ फेंकनेकी कोशिश करनी चाहिये। कहीं ऐसा न हो जाय कि बुरे खयालोंके अनुसार हम कोई काम कर बैठें। देखो, यदि राजा अपने संकल्पको रोककर उसका कारण ढूँढ़नेका प्रयत्न न करता तो उसके द्वारा कितना अनर्थ हो सकता था। जहाँ मनमें बुरे खयाल आये कि धीरे-धीरे उनसे बहुत दुर्गुण पैदा हो जाते हैं। इसलिये बराबर विचारपूर्वक काम करना चाहिये। अच्छे संकल्पवालेका परम धन विचार ही है। विचारहीन पुरुषोंके बुरे विचारोंकी वजहसे दूसरोंको तो तकलीफ उठानी पड़ती है ही, खुद उन्हें भी तरह-तरहकी मुसीबतोंको शिकार होना पड़ता है। वे नहीं जानते कि इन मुसीबतोंको उन्होंने खुद बुलाया है। इसीसे बेमतलब दूसरोंको दोष लगाया करते हैं। ऐसे विचारहीन पुरुषोंके पास कितनी ही सुखकी चीजें हों वे सुखी नहीं रह सकते। उनका दिल बराबर जला करता है और वे अपनी सारी आबरू खो बैठते हैं। इस विषयमें मैं तुम्हें एक कहानी सुनाऊँगी। आज तो मुझे बहुत देर हो गयी है। तुम भी अपने घरका काम-धंधा देखो। कल इस विषयमें कुछ विशेष बातचीत होगी।'

ऐसा कहकर शान्तिदेवी अपने घर चली गयीं।

शान्तिदेवीके घर

दूसरे दिन सुमति स्वयं ही शान्तिदेवीके घर चली गयी। उसे उनकी बातें सुननेकी इतनी तीव्र इच्छा हो गयी थी कि भोजनादिसे निवृत्त होनेके पश्चात् उसे शान्तिदेवीका इन्तजार करना कठिन हो गया। सुमतिको आयी देख शान्तिदेवीके घरकी महिलाओंने उसका यथोचित सत्कार किया। फिर जब सब निश्चिन्त होकर बैठ गयीं तो सुमतिने कहा—'बहनजी! आपकी कलकी बातें सुनकर मुझे बड़ा ही आनन्द हुआ। दरअसल संसारको हमने ही पकड़ रखा है। यदि हम जान जायँ कि इस दुनियाकी सारी चीजें नष्ट होनेवाली हैं तो कभी भी ये पदार्थ हमें बाँध नहीं सकते। इसके लिये आपने शुद्ध व्यवहारकी बहुत आवश्यकता बतायी तथा बुरे आचरणसे कितनी हानि हो जाती है, इस विषयमें कोई कहानी सुनानेको कहा था तो आज कृपाकर उसे खुलासा करके समझाइये।

स्वार्थी ब्राह्मण

शान्तिदेवी—'बहिन! इस बातको मैं एक स्वार्थी ब्राह्मणकी कथा सुनाकर समझाऊँगी। तुम ध्यान देकर सुनो। एक ब्राह्मण था। उसे बहुत-सा धन माता-पितासे मिला था। उसकी स्त्री भी बड़ी सुशीला, सुन्दरी, गुणवती और पतिकी सेवा करनेवाली थी। घरमें कई नौकर-चाकर होनेपर भी वह सब काम अपने हाथों करती थी। उसके माता-पिताने उसे शिक्षा भी अच्छी दी थी। वह बराबर अपने बच्चोंको अच्छे रास्ते चलना सिखलाती और उन्हें तरह-तरहकी उत्तम बातें बताती रहती थी। सुशीला असलमें सुशीला थी।'

'परन्तु ब्राह्मणदेवताका दूसरा ही ढंग था। वे हमेशा निठल्ले

आदमियोंके साथ बैठे-बैठे फिजूलकी बातें बनाते रहते थे। उन्हें न रुपये कमानेकी इच्छा थी, न धर्मके रास्ते चलनेकी। बुरी सोहबतमें पड़कर वे जुए या सट्टेमें जरूर कुछ रुपया फूँक आते थे। सुशीला उन्हें बहुत समझाती और कोई नेक काम करनेकी राय देती; परन्तु उन्हें उसकी बातोंसे उलटी चिढ़ होती थी। धीरे-धीरे सब धन स्वाहा हो गया। अब ब्राह्मणदेवताकी भी आँखें खुलीं। एक दिन वे दुःखी होकर घरसे चल दिये और जंगलमें एकान्तमें जाकर पुक्का फाड़कर रोने लगे। संयोगसे उधर कोई महात्मा निकल आये। उन्होंने इन्हें इस तरह रोते-चिल्लाते देख उसका कारण पूछा। ब्राह्मणने कहा, 'महाराज! रोऊँ नहीं तो क्या करूँ? मेरे पड़ोसी खूब मौज कर रहे हैं और मैं दाने-दानेको मोहताज हो रहा हूँ।' महात्माने कहा, 'भाई! तुझे धनकी जरूरत है, सो तो ठीक है, परन्तु तू अपने पड़ोसियोंको सुखी देखकर क्यों जलता है? यदि तू सच्चा सुख चाहता है तो तुझे दूसरोंके सुखमें ही अपना सुख मानना चाहिये। अच्छा ले, तू यह शंख ले जा। इससे तू जो चीज माँगेगा, वही मिल जायगी। परन्तु याद रख उससे दूनी तेरे पड़ोसियोंको मिलेगी।' ऐसा कहकर वे महात्मा अन्तर्धान हो गये।

ब्राह्मणदेवता उस शंखको लेकर घरकी ओर चले। परन्तु यह बात जानकर कि इससे जो कुछ माँगा जायगा, उससे दूना पड़ोसियोंको मिल जायगा—उनका चित्त प्रसन्न नहीं था। वे पड़ोसियोंके दूने लाभको सहन नहीं कर सकते थे। घर पहुँचनेपर सुशीलाने उनसे पूछा, 'आप कई दिनसे कहाँ चले गये थे, अब तो घरमें कुछ भी है नहीं, फिर किस तरह गुजर होगी?'

ब्राह्मण—'इसका उपाय तो मैं कर आया हूँ; मगर अफसोस इस बातका है कि उससे मुझे जितना धन मिलेगा, उससे दूना-

दूना मेरे पड़ोसियोंको मिल जायगा। इस तरह मुफ्तमें ही अपने पड़ोसियोंका मालामाल होना मैं सह नहीं सकता।'

सुशीला—'यह तो अच्छा ही हुआ। इससे तो सहज ही आप अपने अड़ोस-पड़ोसके लोगोंकी भलाई कर सकेंगे। अब सोचते-विचारते क्या हैं, उस जड़ीको काममें लाइये।'

ब्राह्मणने सुशीलाको वह शंख देकर उसके बारेमें जो कुछ महात्माने कहा था, वह सब सुना दिया। सुशीलाने उस शंखसे सौ रुपये माँगकर खाने-पीनेका जरूरी सामान मँगवाया। उसी समय उस मुहल्लेमें हर एक गृहस्थको दो-दो सौ रुपयेका लाभ हो गया।

यह सब देखकर सुशीलाको बड़ी खुशी हुई। बेचारे ब्राह्मणदेवता बड़े चकराये। उन्हें दूसरोंकी दूनी भलाईसे बड़ी जलन होती थी। सुशीलाने उस शंखके प्रतापसे बाग-बगीचा, सवारी तथा सभी जरूरी साज और सामान इकट्ठे कर लिये; परन्तु पड़ोसियोंको दूना धन-दौलत मिलनेके कारण ब्राह्मणदेवताको बहुत दुःख होता रहा। आखिर उन्होंने झुँझलाकर शंखसे प्रार्थना की कि मेरी एक टाँग टूट जाय। इससे उनके पड़ोसियोंकी दोनों टाँगें टूट गयीं। इस तरह दूसरोंकी बुराई करनेके लिये वे अपनी टाँगें तोड़कर भी खुश ही रहे। टाँगें टूट जानेसे पड़ोसियोंकी बड़ी तकलीफ हुई। उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की कि वे इस संकटसे उनका उद्धार करें। उनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने अपनी दया-दृष्टिसे उन सबको ठीक कर दिया और उस ब्राह्मणको डाँटकर कहा, 'रे दुष्ट! मैंने तेरी गरीबी देखकर दया करके तुझे ऐसी अनमोल चीज दी थी, परन्तु अपनी बदनीयतसे तू दूसरोंकी बुराई करनेसे नहीं चूका। अच्छा, अब यह शंख तेरे पास नहीं रहेगा और तू जन्मभर इसी तरह लँगड़ा रहेगा।'

'अब ब्राह्मणकी आँखें खुल गयीं। उसे अपनी भूल मालूम हुई। वह बार-बार पछताने लगा। किन्तु '**अब पछताये होत का [जब] चिड़िया चुग गयी खेत**', बस, वह जन्मभरके लिये लँगड़ा रह गया। बहिन सुमति! जो दूसरोंके लिये बुरी बात सोचता है, उसका कभी हित नहीं हो सकता। ऐसे दुष्ट पुरुषोंके संगसे अच्छे पुरुषोंको भी दुःख ही होता है, इसलिये इनसे सदा दूर रहना चाहिये। बुरी सोहबत किसीके लिये भी ठीक नहीं है।'

सुमति—'बुरी सोहबतमें पड़नेसे अच्छे आदमी कैसे बिगड़ सकते हैं? यदि बुरे लोग अपनी आदत नहीं छोड़ते तो सज्जन ही क्यों अपनी आदत छोड़ें, इस बातको कुछ विस्तारसे समझानेकी कृपा करें।'

कुसंगका फल

शान्तिदेवी—'सुमति! सुनो, इस विषयमें मैं तुम्हें एक कहानी सुनाती हूँ। एक बार एक राजकुमार वनमें शिकार खेलने गया। अपने निशानेके पीछे दौड़ते-दौड़ते वह बहुत दूर निकल गया और उसके सब साथी पीछे रह गये। धूप बहुत तेज थी, दिन भी बहुत चढ़ गया था, इसलिये अन्तमें भूख-प्याससे घबड़ाकर और बुरी तरह थक जानेके कारण वह वृक्षके नीचे लेट गया। वृक्षकी छायामें ठण्डी-ठण्डी वायुका झोंका लगते ही उसे नींद आ गयी और वह बेखबर सो गया।'

'उसी समय एक हंस उड़ता हुआ उस वृक्षपर आकर बैठ गया। इसी समय एक कौआ भी वहाँ आ बैठा। वह हंसके साथ चिकनी-चुपड़ी बातें बनाने लगा। शुद्धहृदय हंस उसकी कुटिलताको क्या समझ सकता था। इतनेहीमें हंसने देखा कि वृक्षके नीचे कोई राजकुमार सोया हुआ है, उसके मुखपर धूप

आ गयी है। यह देखकर वह ऐसी जगह पंख फैलाकर बैठ गया, जहाँसे उसकी धूप रुक जाय। जब कौएको उसके इस प्रकार जगह बदलनेकी बात मालूम हुई तब वह उड़कर उसके नीचे जा बैठा, जिससे कि जागनेपर राजकुमार उसे ही अपनी भलाई करनेवाला जानकर खुश हो। किन्तु कौएकी आदत होती है कि वह जहाँ बैठता है, वहीं बीट कर देता है। यहाँ भी वह ऐसा करनेसे न चूका। राजकुमारका मुख खुला हुआ था। कौएकी बीट सीधे उसके मुखमें गयी। इससे उसकी नींद खुल गयी। यह देखते ही कूटबुद्धि कौआ उड़ गया! राजकुमारने ऊपरकी ओर देखा तो हंस पंख फैलाये बैठा था। उसने यह उसीकी करतूत समझकर क्रोधमें भरकर एक तीर मारा, उससे बेचारा हंस तड़फड़ाता हुआ नीचे गिर गया। उसने राजकुमारसे कहा, 'भाई! शीघ्र ही मेरा तीर निकालो, तुमने मुझ बेकसूरके साथ ऐसा क्यों किया?'

राजकुमारने तीर खींचते हुए कहा, 'तुमने मेरे मुखमें बीट क्यों की थी?'

हंस बोला—'भाई! मुझे इसका कुछ पता नहीं है। मैं तो तुम्हारे मुखपर धूप आयी देखकर उसकी छाया करनेके लिये बैठा था। जान पड़ता है यह दुष्टता कौएकी है।'

हंसकी बात सुनकर राजकुमारको बहुत पछतावा हुआ और इस प्रकार बिना बिचारे अपने उपकारक हंसके वधका कारण बननेसे उसे बड़ी ग्लानि हुई। राजकुमार जानता था कि भला करनेवालेके साथ जो बुरा करता है, उसका कभी भला नहीं होता। इसीलिये वह बेहद डर गया था। उसके दुःखकी सीमा न थी। राजकुमारको दुःखी होते देखकर हंसने बहुत समझाया और कहा कि यह तो मेरे ही दोषका फल है। तुम किसी

प्रकारकी चिन्ता मत करो, यदि मैं कौएकी कुसंगति न करता तो भला यह गति क्यों होती? कुसंगति तो एक क्षणकी भी बहुत हानिकारक ही होती है, हमलोग तो सरलहृदय होते हैं, कौओंका कपट क्या जानें? इनका खाद्य ही अत्यन्त मलिन है; फिर हृदय कैसे शुद्ध हो सकता है। अस्तु, मुझे उसके एक क्षणके कुसंगका फल मिल गया। इससे तुम भी याद रखना कि कभी एक क्षणके लिये भी कुसंग न हो। अच्छा, अब दिन ढलने लगा है, तुम निश्चिन्त होकर अपने नगरको जाओ।

राजकुमार बोला, मेरे द्वारा तुम्हें जो कष्ट हुआ है, उसका दुःख मेरे हृदयको अब भी साल रहा है। परन्तु हो ही क्या सकता है। तुम अपनी उदारतासे ही मेरा अपराध क्षमा करना। मैं यहाँसे अपने नगरका भी मार्ग नहीं जानता, कोई साथी भी पास नहीं है, इसलिये समझ नहीं पड़ता कैसे जाना होगा?'

हंसने कहा, 'राजकुमार! तुम्हारे प्रति मेरे चित्तमें तनिक भी रोष नहीं है। यह सब मेरा प्रारब्ध-भोग है। तुम यहाँसे सीधे पूर्वकी ओर चले जाओ। कुछ दूर जानेपर तुम्हें एक साथी मिल जायगा।'

इतना कहकर हंस बेहोश हो गया और उसके प्राण-पखेरू उसका शरीर छोड़कर उड़ गये। राजकुमार दुःखी होकर उठा और हंसके इशारेसे पूर्वकी ओर चल दिया। कुछ दूर जानेपर उसे एक साथी मिल गया। उसके साथ वह सकुशल अपनी राजधानीमें चला गया।

शान्तिदेवी—'देखो सुमति! एक क्षणकी ही कुसंगतिसे उस हंसको मौतके घाट उतरना पड़ा। इसलिये कुसंगतिसे सदा दूर रहना चाहिये। असलमें आत्माका स्वरूप तो आनन्दमय ही है। उसे जो दुःख होता है, उसका कारण भी देहादिका मोह ही है।

यदि वह उनका कुसंग छोड़ दे—अपनेको उनसे सर्वथा अलग समझे तो फिर उसके दुःखका कोई कारण ही नहीं रहेगा। वह तो फिर आनन्दके सागरमें डुबकियाँ लगाकर मस्त हो जायगा। राग-द्वेष मिटनेपर ही वह मस्ती आती है। सच पूछो तो रागमें ही द्वेष समाया हुआ है। अपनी देह, स्त्री, पुत्र एवं घर-मकान वगैरहमें अधिक राग होनेपर ही हमें दूसरोंकी उन्नति नहीं सुहाती और इसीसे चित्त जला करता है। यदि संयोगवश किसीके जरिये हमारा कुछ भी बिगड़ जाता है तो सहज ही हमारे दिलमें उसके प्रति द्वेष होता है और यह द्वेष ही सारे दुःखोंका घर है। इसलिये यदि तुम शान्ति पाना चाहती हो तो दुनियाकी किसी भी चीजमें मन फँसने न दो, जहाँ मन फँसा कि मनुष्य मारा गया। मनचाही चीज न मिले तो क्रोध हो आता है। इस प्रकार काम और क्रोध मनुष्यके घोर दुश्मन हैं और ये ही सारी फसादकी जड़ हैं। जिस समय अर्जुनने भगवान्‌से यह पूछा कि 'हे प्रभो! वह कौन-सी वस्तु है, जिसकी वजहसे इच्छा न होनेपर भी मनुष्य लाचार होकर पाप कर बैठता है, तो भगवान्‌ने यही उत्तर दिया कि—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'हे अर्जुन! वह रजोगुण [राग] से उत्पन्न होनेवाला काम है—वह क्रोध है। वह बहुत खानेवाला और बड़ा पापी है। तुम उसे नित्य वैरी समझो।' काम-क्रोध भाई-भाई हैं। जहाँ इनमेंसे एक रहता है, वहाँ दूसरा भी रहता ही है। यह बहुत खानेवाला है, इसका मतलब यह है कि कामनाका कभी पेट नहीं भरता। इच्छित पदार्थ जितने-

जितने मिलते जाते हैं, उतनी ही और पानेकी आग बढ़ती जाती है। वह काम जिस समय क्रोधरूपमें प्रकट होता है, उस समय ऐसा कोई पाप नहीं है जो उससे न हो सके। इसलिये उसे महापापी कहा है। यह समझ लो सुमति! कि जबतक हम बुद्धिपूर्वक सावधानीसे काम करते हैं, तबतक काम-क्रोध हमारे पास नहीं फटकते, परन्तु हमारे जरा-सा बेखबर होते ही ये हमपर हमला कर बैठते हैं, इसलिये इन काम और क्रोधको अपना घोर दुश्मन समझकर इनसे बराबर होशियार रहना चाहिये।'

'सुमति! अब तुम अच्छी तरह समझ गयी होगी कि मोह ही सारे दुःखकी जड़ है। तुम यदि सच्चा सुख चाहती हो तो संसारकी सब चीजोंका मोह छोड़कर, बिलकुल मनको संसारसे मोड़कर, अपने सब कर्तव्योंका पालन किया करो। जो काम करना हो उसका नतीजा पहले सोच लो। ऐसा कोई काम मत करो, जिससे किसी तरह किसीकी कोई बुराई हो। हमेशा सबके लिये उत्तम विचार रखो, शुभ भाव रखो और हर समय भगवान्‌का नाम लिया करो। ऐसा करते-करते तुम्हारा हृदय शुद्ध हो जायगा और तुम्हें भगवान्‌की झलक मिलने लगेगी। सचमुच देखो तो परमात्मा तुमसे तनिक भी दूर नहीं है। वह तो तुम्हारे हृदयकी कोठरीमें छिप रहा है। अज्ञानसे ही तुमने उसे अपनेसे कोसों दूर कर रखा है। जीव अपने-आप ही मायामें फँसा हुआ है। जिस प्रकार कुमारी नामका कीड़ा स्वयं ही घर बनाकर उसमें बन्द हो जाता है तथा रेशमका कीड़ा स्वयं ही अपने चारों ओर रेशमका तार लपेटकर उसमें बँध जाता है, उसी प्रकार जीव नासमझीसे खुद अपने चारों तरफ मोह-ममताका जाल

फैलाकर उसमें बँधा हुआ है। मायाको तो वह यों ही दोष लगाता है, वह तो उसीका संकल्पमात्र है। वह फँसा तो अपने-आप ही है, माया बेचारीका क्या दोष।'

'सुमति! यदि तुम विचारकर देखोगी तो मालूम होगा कि अपनी इच्छाने ही जीवको दुःखी कर रखा है। विषयकी इच्छा जहाँ हुई कि मन बाहरकी ओर भागता है और आत्मानन्दसे टूट जाता है। संसारकी चीजोंमें जो सुख दिखायी देता है; वह सच्चा सुख नहीं है, इसीसे उससे कभी किसीका जी नहीं भरता। सुख तो सभी जीव चाहते हैं और उसके लिये तरह-तरहके उपाय भी करते हैं, परन्तु किसीको उसकी प्राप्ति नहीं होती—केवल श्रम, निराशा और असन्तोष ही हाथ लगते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो सांसारिक सुखोंकी ओरसे मुँह मोड़कर पारलौकिक सुखके लिये भाँति-भाँतिके नियम-व्रत एवं यज्ञ-यागादि करते हैं; परन्तु उन्हें जो सुख मिलता है वह भी एक दिन नष्ट हो ही जाता है। सच्चा सुख तो केवल एक आत्मदर्शीको ही मिलता है। उसके सिवा तो देवताओंको भी नित्य सुख प्राप्त नहीं है। शरीरधारी चाहे वह मनुष्य हो चाहे देवता, सदाके लिये सुखी हो नहीं सकता, क्योंकि शरीरका तो अन्त होनेवाला है और इस अन्त होनेवाली चीजसे सुख हो तो कैसे?'

सुमति—'बहिनजी! आपने यह क्या कहा कि देवताओंको भी असली सुख प्राप्त नहीं है। उनसे तो सांसारिक लोग भी सुख पानेकी आशा रखते हैं, इसीलिये वे अनेक प्रकारके कष्ट सहकर देवताओंकी पूजा-अर्चा करते हैं।'

शान्तिदेवी—'हाँ बहिन! सच्चा सुख देवताओंको भी प्राप्त नहीं है। यह ठीक है कि देवलोकोंमें जो सुखकी सामग्री

है वह इस लोककी अपेक्षा बहुत ऊँची श्रेणीकी है तथा देवताओंकी उम्र भी हमलोगोंकी अपेक्षा बहुत बड़ी है; परन्तु एक दिन अन्त तो उनका भी होता है तथा उनके ऐश्वर्यमें भी कमी-बेशी होती रहती है, इसलिये उनका सुख नष्ट होनेवाला तथा घटने-बढ़नेवाला है। इस कारण वह दुःखरूप ही है। जहाँ अपने ऐश्वर्यके नष्ट होनेका भय बना रहे, दूसरेके बढ़े हुए ऐश्वर्यको देखकर चित्तमें डाह हो तथा अपनेसे नीचेके ऐश्वर्यवानोंको देखकर चित्तमें डाह हो, वहाँ सुख कैसे हो सकता है? इसलिये विचारवान् पुरुषोंके लिये तो स्वर्गादिका सुख भी हेय ही है।'

'बहिन सुमति! रागमें ही द्वेष समाया हुआ है। एक वस्तुसे रागका अर्थ है दूसरेसे द्वेष और यही दुःखका कारण है; इसलिये सुमति! तुम लौकिक और पारलौकिक सब प्रकारके विषयोंसे मुख मोड़कर अपने अन्तःकरणमें स्थित आनन्दके अखण्ड भण्डार अपने आत्माका ही साक्षात्कार करो। वही सच्चे सुखका एकमात्र स्रोत है, उसीको पाकर जीव नित्य सुख प्राप्त कर सकता है। उस सुखसागर आत्मदेवकी ही उपासना करो और सारे विषयोंकी कामना छोड़ दो। जीव स्वभावसे ही राग करनेवाला है, क्योंकि राग-प्रेम या आनन्द ही उसका स्वरूप है। यह राग जब विषयोंमें बँट जाता है, तब उसे अपने असली स्वरूपका बोध नहीं होता। यदि वह सब ओरसे हटकर आत्मामें ही जुट जाय तो अत्यन्त गम्भीर हो जाता है और फिर संसारके सारे विषय नीरस और फीके हो जाते हैं।

राग-रागके रागमें जगत-राग सब छोड़।
प्रेमी प्रीतम राम है, राग रामसे जोड़॥

'बस, एकमात्र राम ही राग करनेयोग्य हैं, वही तुम्हारा सच्चा

प्रियतम है। तुम सारे रागोंको छोड़कर केवल राममें ही राग बढ़ाओ।'

सुमति—'बहिनजी! आप जो बातें कहती हैं, वह बिलकुल ठीक है। विषयोंके रागसे ही जीव सच्चे सुखसे वंचित है; परन्तु यह अभागा चित्त उस सच्चे सुखको भूलकर बार-बार विषयोंकी ओर ही दौड़ता है; इसलिये कोई ऐसा उपाय बताओ जिससे इसकी यह गति बदलकर परमात्माके प्रति ही हो जाय।'

शान्तिदेवी—'बहिन सुमति! जन्म-जन्मान्तरसे जीवका संसर्ग विषयोंसे ही रहा है। यह उन्हींमें सुख मानता रहा है। इसलिये इसे विषयोंकी ओर दौड़नेका ही अभ्यास हो गया है। यदि इसे ऐसा संग प्राप्त हो कि जहाँ संसारकी विषय-वार्ता न होकर नित्य-निरन्तर भगवच्चर्चा और साधन-सम्बन्धी बातें ही हों तो इसकी चाल बदल सकती है। जिस प्रकार कुसंग कुमार्गमें ले जाता है, उसी प्रकार सत्संग सुमार्गमें ले जानेवाला है। कभी-कभी तो एक क्षणका सत्संग भी जीवके जीवनको बदल देता है, इस विषयमें रत्नाकर डाकूका इतिहास प्रसिद्ध है, जो पीछे महर्षि वाल्मीकिके नामसे प्रसिद्ध हुआ था।'

सुमति—'बहिनजी! रत्नाकरका इतिहास क्या है? उसे सुननेकी मेरी बहुत इच्छा है।'

शान्तिदेवी—'अच्छा, अब तो बहुत समय हो गया है। मुझे भी कई काम देखने हैं, कल मैं सबेरे ही तुम्हारे घर आऊँगी, तब इस विषयमें चर्चा होगी।'

सुमति अभिवादन कर अपने घर चली गयी।

सन्तोंका प्रभाव

अगले दिन शान्तिदेवी स्नान-पूजनसे निवृत्त होकर प्रातःकाल ही सुमतिके घर पहुँची। सुमति तो पहलेसे ही उनकी राह देख रही थी। उसे उनकी बातोंमें बड़ा अद्‌भुत आनन्द आता था। शान्तिदेवीके पहुँचते ही उनका यथोचित सत्कार कर सुमतिने पूछा, 'बहिनजी! कल आपने सत्संगका प्रभाव दिखानेके लिये रत्नाकर लुटेरेकी कथा सुनानेको कहा था, सो वह किस प्रकार एक क्षणके साधुसंगसे सत्पुरुष हो गया, यह जाननेकी मुझे बड़ी उत्कण्ठा हो रही है।'

शान्तिदेवी—'सुमति! सत्संगकी बड़ी महिमा है। श्रीशंकराचार्यजीने कहा है—'**क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका।**' सत्पुरुषकी क्षणभरकी संगति भी संसार-सागरसे पार होनेमें नौकारूप होती है। सुनो, मैं उसकी कथा तुम्हें सुनाती हूँ। रत्नाकरका जन्म ब्राह्मणवंशमें हुआ था, किन्तु उसके आचरण शूद्रोंके समान थे। वह हमेशा लुटेरोंके साथ रहता और बेचारे निर्दोष यात्रियोंकी हत्या करके उनका सब माल-मता छीन लेता। यही उसकी आजीविका थी।

'एक दिन दैवयोगसे देवर्षि नारद उस ओर आ निकले। रत्नाकरने उनकी ओर झपटकर कहा, 'ठहरो, आगे मत बढ़ना।'

नारदजी—'अरे दुष्ट ब्राह्मण! तू क्या चाहता है?'

रत्नाकर—'तुम जानते नहीं मैं डाकुओंका सरदार रत्नाकर हूँ। तुम्हारे पास जो कुछ हो यहाँ सीधे रख दो, नहीं तो तुम्हारी खैर नहीं।'

नारदजी—'भाई! हमारे पास तो केवल यह वीणा और श्रीहरिनाम है। तुम प्रसन्नतासे जब चाहो तब ले सकते हो।'

रत्नाकर—'अच्छा, तुम जरा गाकर सुनाओ। तुम्हारी वीणाका स्वर तो बड़ा अच्छा जान पड़ता है। तब श्रीनारदजीने अत्यन्त सुमधुर स्वरमें भगवान्‌के त्रिलोकपावन नामोंका कीर्तन करना आरम्भ किया। उसके प्रभावसे रत्नाकरका कठोर हृदय कुछ पसीजा। उसमें कुछ दयाका संचार हुआ। वह बोला 'मुने! मेरे हृदयमें सदा आग-सी जलती रहती है। आज तुम्हारा कीर्तन सुनकर मुझे कुछ शान्ति-सी जान पड़ती है। क्या इसमें कोई जादू है?'

नारदजी—'भाई! रामनाममें एक अजीब जादू है। यह तो शान्तिका भण्डार ही है। तुम लूटमार करते हो, निरपराध यात्रियोंके प्राण हर लेते हो। सोचो तो सही, संसारमें जीवहिंसासे बढ़कर कोई पाप है? सच मानो, तुम्हारे हृदयमें पापाग्नि ही सुलगती रहती है। भाई! तुम यह क्रूर कर्म छोड़ दो।'

रत्नाकर—'महाराज! लूट-मार छोड़ दूँ तो अपने माता-पिता और परिवारका पालन-पोषण किस प्रकार करूँगा, हमारा तो इसीसे पेट भरता है।'

नारदजी—'भाई! जिनका तुम पालन करते हो उनसे एक बार यह तो पूछो कि तुमलोग इस लूटके धनके साथी हो या इसके बदले मुझे नरकमें जो कष्ट भोगना पड़ेगा उसमें भी भाग लोगे। यदि वे केवल धनके ही साथी हों तो तुम्हारा इस प्रकार पापमें लगे रहना ठीक नहीं।'

नारदजीकी यह बात सुनकर रत्नाकरने समझा ये मुनिराज इसी बहाने मुझे घर भेजकर आप भाग जाना चाहते हैं। उसकी मनोवृत्ति जानकर मुनिने कहा, 'देखो, तुम मुझे इसी पेड़से बाँध जाओ और जल्दी पूछकर मुझे उनका विचार बताओ।'

रत्नाकरने घर जाकर अपने माता-पितासे कहा, 'पिताजी! मैं

नित्य लूट-मारकर और जीवोंकी हत्या करके आपके लिये धन लाता हूँ। उसे आप सभी भोगते हैं, परन्तु इस पाप-कर्मके लिये मुझे परलोकमें जो दण्ड मिलेगा, उसमें आपलोग भाग लेंगे या नहीं?'

तब वे दोनों बोले, 'बेटा! धनोपार्जन करके हमारा पालन करना तेरा धर्म है। यदि तू अधर्मसे धन बटोरता है तो हम उसमें क्या कर सकते हैं, उसका फल तो अकेले तुझे भोगना पड़ेगा। जो जैसा करता है उसे वैसा भोगना पड़ता है। हम तेरे पापके भागी कैसे हो सकते हैं?'

माता-पिताका यह कोरा उत्तर सुनकर रत्नाकरको बड़ा खेद हुआ। उसे ऐसी आशा कभी नहीं थी फिर उसने अपनी स्त्रीसे जाकर यही बात पूछी।

स्त्रीने कहा—'स्वामिन्! मेरा धर्म तो आपकी सेवा करना है। यदि मैं उसमें त्रुटि करूँगी तो मुझे नरक भोगना पड़ेगा। धन लाना तो आपका काम है। यदि आप पापपूर्वक धन संग्रह करते हैं तो उसकी जिम्मेवारी आपपर ही है। मैं उसका फल क्यों भोगूँगी?'

अपने परिवारमें ऐसा सूखा उत्तर पाकर रत्नाकरको बड़ा खेद हुआ। उसे स्वप्नमें भी यह आशा नहीं थी कि मेरे कुटुम्बी केवल धनके ही साथी हैं, उन्हें मेरे दुःखभोगकी कोई चिन्ता नहीं है। वह मन-ही-मन पछताता हुआ नारदजीके पास आया और उनका बन्धन खोलकर चरणोंमें गिर गया। उस समय पश्चात्तापकी आगसे उसके हृदयका सारा मल जल गया और वह फूट-फूटकर रोने लगा। उसे अत्यन्त दुःखी देखकर नारदजीने ढाढ़स बँधाया तब उसने रोते हुए उनसे अपने उद्धारका उपाय पूछा।

नारदजी—'भाई! यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो

आजसे किसी भी जीवको मत सताना और जहाँतक बन पड़े निरन्तर राम-नाम जपते रहना।'

रत्नाकरने भविष्यमें पवित्र जीवन व्यतीत करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। उसने सदाके लिये अपने घरसे सम्बन्ध छोड़ दिया। किन्तु इतने दिनोंतक पापमय जीवन व्यतीत करनेके कारण उसका हृदय इतना कलुषित हो गया था कि वह प्रयत्न करनेपर भी राम-नामका उच्चारण नहीं कर सकता था; इसलिये उसने कोई और सरल उपाय पूछा।

श्रीनारदजीने विचारा। इसका जीवन मार-धाड़ करते ही बीता है। इसलिये इसकी वृत्तियाँ अत्यन्त उग्र हो गयी हैं। अतः उन्होंने उसे 'मरा, मरा' ऐसा जप करनेका उपदेश किया। 'मरा-मरा' ही कालान्तरमें उलटकर 'राम-राम' हो गया। उसने एक ही स्थानमें स्थिर आसनसे बैठकर ऐसी कठोर तपस्या की कि उसके शरीरपर वल्मीक (दीमकके घर) बन गये और वह चारों ओरसे उनसे दब गया। इस प्रकार उसे कई सहस्र वर्ष बीत गये। तब नारदजी फिर उधर आये और उन्होंने पुकारकर कहा, 'वाल्मीकि!' बस, इससे उसकी समाधि टूट गयी और वे रत्नाकरसे वाल्मीकि मुनि हो गये।

इसी बातको गोसाईं तुलसीदासजीने कहा है—

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥

इन वाल्मीकिजीने ही सबसे पहले रामचरित रचे थे। ये आदिकवि कहे जाते हैं। भगवान् राम वनवासके समय भाई लक्ष्मण और श्रीसीताजीके सहित इनके आश्रमपर पधारे थे और जब सीताजीको वनवास हुआ तब वे भी इन्हींके आश्रमपर रही थीं और उसी समय उनके गर्भसे कुश और लवका जन्म हुआ था। इन दोनों कुमारोंकी शिक्षा-दीक्षा भी उन्हींके द्वारा हुई थी। इनकी शान्त वृत्तिके कारण

इनके आश्रममें सिंह और मृग एक साथ विचरते थे। यह सब श्रीनारदजीके क्षणिक सत्संगका प्रभाव था।

'देखो सुमति! जीवके जब उद्धारके दिन आते हैं तब उसी तरह अनायास कोई-न-कोई सन्त मिल जाते हैं। इन सन्तोंकी महिमा और प्रभावका कहाँतक वर्णन किया जाय, इन्हें स्वयं तो किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं होती, किन्तु जो इनकी शरण जाते हैं, उन्हें ये वह चीज देते हैं जिसे पाकर फिर किसी और वस्तुकी इच्छा नहीं रहती और जिससे बढ़कर त्रिलोकीका कोई भी पदार्थ नहीं है।' उसके विषयमें भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

'जिस लाभको पाकर जीव उससे बड़ा कोई और लाभ नहीं समझता तथा जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े-से-बड़े दुःखसे भी विचलित नहीं होता।' जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसके आनन्दकी तुलनामें ब्रह्माका सुख भी अत्यन्त तुच्छ है। उसकी महिमा किसीकी भी बुद्धिमें नहीं आ सकती। वह त्रिलोकीके राज्यको भी तृणके समान समझता है। कारण कि आत्मज्ञानसे ऊँचा कोई पदार्थ है ही नहीं। इस ज्ञानको पाकर मनुष्य परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है और उसे फिर किसी पदार्थकी इच्छा नहीं रह जाती। इस विषयमें मैं तुम्हें एक इतिहास सुनाती हूँ। सुनो—

एक बार भारतवर्षके सन्तोंकी बहुत प्रशंसा सुनकर एक मुसलमान बादशाहको उनके दर्शनोंकी इच्छा हुई। वह सन्तोंकी खोजमें वनमें घूमता-घूमता एक महात्माकी कुटीपर पहुँचा। इस समय महात्मा समाधिमें स्थित थे। उनके शरीरपर बहुत स्वल्प वस्त्र थे तथा कुटीमें भी एक-दो चटाईके सिवा और कोई चीज-वस्तु नहीं थी। यह सब देखकर बादशाह सोचने लगा, यहाँ तो इन्हें बड़ा कष्ट होता होगा। न सोनेको पलंग है और न बिछानेको बिस्तर। इनके पास शीतसे

बचनेयोग्य वस्त्र भी नहीं है। इस निर्जन वनमें भला, ये खाते क्या होंगे? बड़ा अच्छा हो यदि ये मेरे साथ चले चलें। मैं इनकी सब प्रकारकी सुविधाओंका प्रबन्ध कर दूँगा।'

इसी समय महात्माकी समाधि खुली। बादशाहने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहा, 'महाराज! इस सुनसान जंगलमें आपको बहुत कष्ट होता होगा। यह देखकर मुझे बहुत दुःख होता है। आप कृपा करके मेरे साथ चलें। मैं सब प्रकार आपकी सुविधाका खयाल रखूँगा।'

महात्मा—'भाई! हमें यहाँ कोई कष्ट नहीं है। इस जगह शरीरकी रक्षाका सब सामान मौजूद है। तुम मेरी चिन्ता छोड़ अपनी चिन्ता करो।'

बादशाह—'महाराज! मैं तो आपको साथ ले चलनेका पक्का इरादा कर चुका हूँ। देखिये, वहाँ मैं आपके आरामका पूरा प्रबन्ध कर दूँगा। सोनेके लिये कोमल शय्या होगी, स्नानको गर्म जल होगा, पहननेको बढ़िया ऊनी कपड़े होंगे, खानेके लिये तरह-तरहके स्वादिष्ट व्यंजन होंगे। हर समय कितने ही सेवक सेवामें रहेंगे। यहाँ तो सिंहादि जंगली जानवरोंके भयसे आपको नींद भी नहीं आती होगी। वहाँ ऐसा कोई खटका नहीं रहेगा। आप मेरे साथ अवश्य चलिये।'

महात्मा—'भाई! तुम इतना आग्रह मत करो। हमें तुम्हारे ऐसे किसी भोगकी इच्छा नहीं है। हम यहाँ बड़े आनन्दमें हैं।'

बादशाहने इसपर भी बहुत आग्रह किया, किन्तु महात्मा उसके साथ चलनेको तैयार न हुए। इससे उसके चित्तको बड़ी ठेस लगी और वह बोला, 'देखिये महाराज! मैं बादशाह हूँ। आपको मेरी बात माननी ही चाहिये। यदि आप मेरे साथ राजीसे नहीं चलेंगे तो अच्छा नहीं होगा।'

महात्मा—'हाँ, तुम प्रसन्नतासे इस शरीरको कैद कर सकते हो; परन्तु तुम्हारे बताये हुए भोगोंके लालचसे तो मैं तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगा।'

बादशाह—'कैद ही नहीं, मैं कत्ल भी करा सकता हूँ। इसलिये आपको मेरी बात मान लेनी चाहिये।'

इसपर महात्माने खिलखिलाकर हँसते हुए कहा, 'भैया! तुम कैसी अभिमानकी बातें करते हो। तुम्हारी क्या ताकत है जो मेरा बाल भी बाँका कर सको। तुम जानते नहीं मैं क्या चीज हूँ। देखो, आग मुझे जला नहीं सकती, जल मुझे गला नहीं सकता, हथियार मुझे काट नहीं सकता और वायु मुझे सुखा नहीं सकता, मैं वह वस्तु हूँ जो सदैव एक स्वरूप रहती है, गर्मी और सर्दी जिसे छू भी नहीं सकती। तुम जिन सिंहादिके भयकी बात कहते हो, मैं तो उनका भी आत्मा हूँ। फिर मुझे उनसे भय क्यों होगा? भाई! मुझे न किसी भोगकी आवश्यकता है और न किसीका भय है; क्योंकि कोई भी वस्तु मुझसे अलग नहीं है और मेरा कभी किसी प्रकार कुछ भी हानि या लाभ नहीं हो सकता।'

'महात्माजीकी ऐसी बेफिक्री और अलमस्ती देखकर बादशाह दंग रह गया और फिर कुछ न कहकर चुपचाप वहाँसे चलता बना। सुमति! महात्माकी बातोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह आत्मज्ञानी थे; क्योंकि आत्मज्ञान हो जानेपर ही किसी वस्तुकी इच्छा नहीं रहती और मनुष्य निर्भय हो जाता है। बाहरी पदार्थोंसे सुखकी आशा रखना दुःखको मोल लेना है और यह सच मानो कि मनुष्य जबतक अपने रूपको नहीं जानता, तबतक ही संसार-दुःखोंसे परिपूर्ण जान पड़ता है। इस दृष्टान्तसे तुम अच्छी तरह समझ गयी होगी कि आत्मज्ञानीको किसी भी वस्तुकी इच्छा अथवा किसी प्रकारका भय आदि नहीं रहते। वे अखण्ड-

शान्ति और परमानन्द प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं। जबतक जीव अपने असली स्वरूपको नहीं जानता, तभीतक उसमें दीनता और मोह इत्यादि दोष रहते हैं। जब उसे यह मालूम हो जाता है कि मैं देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिसे एकदम परे हूँ तो उसमें किसी प्रकारकी इच्छा रह नहीं जाती।'

सुमति—'बहिनजी! यह बात कैसे समझी जाय कि मैं देह, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदिसे परे हूँ, कृपया खुलासा करके समझाइये।'

शान्तिदेवी—'इसके लिये तुम यह विचार करो, इस शरीरमें 'मैं' कहलानेवाली वस्तु क्या है? हाथ, पाँव, नाक, कान, पेट या पीठ अथवा इन सबका समूह? इनमेंसे तो कोई 'मैं' कहा नहीं जा सकता; क्योंकि इन्हें 'मेरा हाथ, मेरा पाँव' इत्यादि प्रकारसे कहा जा सकता है। इस लोकमें मेरी कही जानेवाली वस्तु सर्वदा मुझसे भिन्न ही होती है, इसलिये इन वाक्योंसे सिद्ध होता है कि मैं इन सबसे भिन्न हूँ। जैसे मेरा मकान मुझसे भिन्न है और मैं उनका स्वामी हूँ,इसी प्रकार मेरे हाथ-पाँव आदि भी मुझसे भिन्न हैं और मैं उनका स्वामी हूँ। मैं आत्मा हूँ और अपने इन मन, बुद्धि एवं देहादिको चेतना प्रदान करनेवाला हूँ। ये सब मेरे अंग हैं, जैसे हाथ-पाँव आदि अंगोंमेंसे किसीका नाश होनेपर भी देहका नाश नहीं होता, उसी प्रकार इन देहादिके नाशसे भी मेरा कुछ नहीं बिगड़ता। देखो सुमति! जब हम सो जाते हैं या स्वप्न देखते हैं तो हमें इन मन-बुद्धि आदिका कोई भान नहीं रहता, परन्तु हम तो ज्यों-के-त्यों रहते ही हैं। इसलिये ये सब पदार्थ क्षणभरमें ही नष्ट होनेवाले हैं; किन्तु आत्मा नित्य एवं अविनाशी है। वह सुखस्वरूप है। विषय तो सभी नाशवान् हैं। उनसे पूर्ण वह सुख नहीं मिल सकता। पूर्ण सुख तो आत्मरमणमें ही है। इस आत्मदेवसे मुँह फेर लेनेके कारण राजा-प्रजा, धनी-दरिद्र,

योगी-यती, सधवा-विधवा सभी दु:खी रहते हैं। यदि ये विषयोंकी ओरसे मुख मोड़कर आत्मचिन्तन करने लगें तो सारे दु:खोंसे छूटकर परमानन्द लाभ कर सकते हैं।'

सुमति—'बहिनजी! मैं तो अबतक यह समझती थी कि गरीबी और विधवा होने आदिमें ही दु:ख है। भला, राजा और धनवानोंको क्या दु:ख हो सकता है और वह आत्मचिन्तन क्या है, जिससे सबका दु:ख दूर होकर परमानन्द प्राप्त हो सकता है?'

शान्तिदेवी—'सुमति! यह संसार तो दु:खोंका ही समुद्र है। जिस प्रकार समुद्रमें तरह-तरहकी तरंगें उठती रहती हैं, उसी प्रकार इसमें भी तरह-तरहके दु:ख सामने आते रहते हैं। जो जिस प्रकारके दु:खका शिकार होता है, उसे उसीका अनुभव होता है और उसीको वह सबसे बड़ा समझता है। किसी मानी राजाका अपने शत्रुसे परास्त होकर उनके सामने सिर झुकाना, भोगासक्त धनियोंका लुटेरोंद्वारा लूटा जाना तथा राज्याधिकारियोंद्वारा बेइज्जत होना क्या संसारके किसी भी दु:खसे कम है? दरअसल दु:ख तो संसारकी चीजोंमें मोह होनेसे ही होता है। संसारकी सारी चीजें एक-न-एक दिन अवश्य छूट जानेवाली हैं, इसलिये जब वे न रहेंगी तो उनमें फँसे हुए आदमीको अवश्य दु:खी होना पड़ता है। परन्तु जो पुरुष आत्माको जानता और उसीमें रमण करता है, उसका विषयोंमें राग या मोह नहीं रहता, इसलिये उन विषयोंका नाश होनेपर भी वह मस्त रहता है। वह तो सर्वदा यही चिन्तन करता रहता है—मैं आनन्दस्वरूप हूँ, मेरा आनन्द ही हर चीजमें झलक रहा है। उसका आनन्द इस संसार या शरीरका सुख नहीं है, वरं आत्माका आनन्द है। इसलिये वह बराबर अपने उसी आनन्दकी मस्तीमें छका रहता है। देखो, सूर्य आकाशमें रहता है, किन्तु उसकी परछाईं गढ़ेमें भरे हुए जलमें भी दिखायी देती है।

इसीसे यदि कोई मूर्ख यह समझने लगे कि जलमें भी सूर्य रहता है तो उसकी इस समझपर समझदारोंको तो हँसी ही आवेगी। इसी प्रकार जो सुख आत्माका स्वरूप है, उसे दुनियाके विषय-भोगोंमें समझनेवाले मूर्खोंकी बुद्धिपर महानुभावोंको तो तरस ही आता है। जिस प्रकार गढ़ेका जल सूखनेपर उसमें सूर्यकी परछाईं दिखायी नहीं देती, उसी प्रकार विषयोंमें दिखायी देनेवाला सुख तो उसके साथ ही नष्ट हो जाता है। इसलिये सुमति! तुम संसारके सारे विषयोंसे चित्त हटाकर एकान्त स्थानमें आत्मचिन्तनका अभ्यास किया करो। अपनी सारी इन्द्रियोंके व्यापारोंको रोककर मनको आत्मामें स्थिर करो। ऐसा अभ्यास करते-करते जब तुम्हारा चित्त स्थिर हो जायगा तो तुम्हें उस आनन्दका रस मिलेगा, जिसको कहकर समझना मुश्किल है। वह आनन्द जिसे मिल जाता है, वही उस रसको समझता है। फिर तुम्हें सारे विषय फीके दिखायी देंगे। कोई भी विषय तुम्हें फँसा न सकेगा। बहिन! दुनियाके ये विषय तो जहर मिले हुए लड्डू हैं। जो उनकी मधुरतामें फँसकर इन्हें चखने जाता है, उसका तो सर्वनाश ही हो जाता है। इसलिये तुम दुनियाके किसी भी पदार्थमें ममता मत करो। सारे विषयोंकी इच्छाको कूड़ा समझो और विचाररूपी झाड़ू लगाकर दिलसे इस कूड़ेको निकाल फेंको। एक महात्मा कहते हैं—

छोड़ ख्वाहिशें जान जहान कूड़ा।
कहा आरिफाँदा हिए धारिये जी॥

अर्थात् 'सारी इच्छाओंको छोड़ दो, संसारको कूड़ा समझो तथा सन्तोंकी बात हृदयमें धारण करो।'

'सुमति! सन्त, महात्मा और शास्त्र सभीका मत है कि सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान् हृदयके मन्दिरमें विराजमान हैं; किंतु जिनका हृदय मलिन है उन्हें अपने हृदयमें उस आत्मदेवकी

झाँकी नहीं होती। विषयचिन्तन ही हृदयकी मैल है। इसलिये जब सारी इन्द्रियवृत्तियोंको रोक देनेसे तुम्हारा हृदय विषयसे परे और शुद्ध हो जायगा तो तुम्हें अपने आत्मदेवका प्रत्यक्ष दर्शन हो जायगा। इसके लिये सबसे बड़ी आवश्यकता सत्संगकी है। सत्संगसे ही जीवको अपने अवगुण दिखायी देते हैं। फिर सत्संगके द्वारा ही इस संसारसे निकलनेका रास्ता सूझता है। किंतु ऐसा कब होगा, जब मनमें किसी प्रकारका लोभ या इच्छा न होगी। जब सच्चा वैराग्य होगा तो आप-ही-आप मन संसारसे हट जायगा और तभी तुम्हारा सारा पाप शान्त हो जायगा। जिस समय तुम्हें अपने स्वरूपका साक्षात्कार हो जायगा, उस समय मालूम होगा कि जिस सुख और शान्तिकी तुम्हें इतनी खोज थी, वह तो तुम्हींमें भरा हुआ है और इतना भरा है कि कहीं तिनका रखनेको भी जगह नहीं है। बस, एकमात्र विशुद्ध आनन्द-ही-आनन्द है। जिस प्रकार अन्धेको ऐनकसे कोई लाभ नहीं हो सकता, उसी प्रकार विषयी पुरुषके लिये सच्चे आनन्दका पाना असम्भव है।

'वेदान्त जगत्को मिथ्या बताता है। सब लोग ऐसा नहीं मानते। परंतु इससे क्या हुआ, जिन्होंने आत्माका साक्षात्कार किया है, उन्हें तो जगत्के खोखलेपनका स्पष्ट अनुभव होता है। देखो, जब हम स्वप्न देखते हैं तो उसमें बिना हुए ही चोर, डाकू एवं सिंह-व्याघ्रादिसे भय होता है तथा अपने प्रियजनोंकी मृत्यु देखकर खेद एवं शोक भी होता है, किन्तु जब आँखें खुलती हैं तो कहते हैं कि हम नाहक दुःखी हो रहे थे। वहाँ तो भय या शोकका कोई कारण ही नहीं था। इसी प्रकार जबतक हम मोहकी नींद ले रहे हैं, तबतक हमें संसारके ये सब पदार्थ सत्य ही दिखायी देते हैं, किंतु जब यह निद्रा टूट जाती है और हम

असली तौरपर जाग जाते हैं तो संसारके सब विषय तुच्छ जान पड़ते हैं, फिर किसी भी प्रकारका मोह, भय या बन्धन नहीं रहता और हम निर्भय होकर कह सकते हैं कि संसार मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही सत्य है। देखो सुमति! जिस समय चित्तसे दुनियाके सुखोंकी आशा मिट जायगी, उस समय तुम्हें स्वयं ही आत्मसूर्यके परम पवित्र प्रकाशका अनुभव होने लगेगा। यह विषयोंकी चाह ही आत्माको ढकनेवाला सबसे मोटा परदा है, यह दूर हुआ कि सारे दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा मिल गया।' एक महात्मा कहते हैं—

चाह चमारी चूहड़ी, तू नीचनकी नीच।
मैं तो पूरन ब्रह्म था, होती तू नहिं बीच॥

एक दूसरे महात्मा कहते हैं—

चाह गयी चिंता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिये, सो जग शाहनशाह॥

दु:खका घर

सुमति! यह विषयोंकी इच्छा मनुष्योंको कैसा तंग करती है, इस विषयमें मैं तुम्हें एक कहानी सुनाती हूँ। इससे तुम यह बात अच्छी तरह समझ लोगी कि इच्छा ही दु:खका मूल कारण है तथा इच्छाओंके त्यागमें ही परमसुखका निवास है।

बालक और ग्वालिनी

एक कंगाल बालकको खीर खानेकी इच्छा हुई। यह इच्छा दिनोंदिन बढ़ने लगी और वह इस खोजमें रहने लगा कि कहींसे दूध मिल जाय तो मैं स्वयं ही खीर बना लूँ। एक दिन दैवयोगसे एक ग्वालिनी दूध बेचती हुई उधर आ निकली। उसे देखकर बालक बड़ा प्रसन्न हुआ और उससे हाथ जोड़कर कहने लगा, 'मैया! मुझे खीर खानेकी बड़ी इच्छा है, किंतु मैं बड़ा कंगाल हूँ, मेरे पास दूध मोल लेनेके लिये पैसा नहीं है। परमात्माने तुझे दूध देनेमें समर्थ बनाया है और उन्हींकी इच्छासे तू मेरे पास आयी है, सो क्या तू मुझे थोड़ा-सा दूध देगी?'

ग्वालिनी परमात्माकी भक्त थी। उसका हृदय बड़ा कोमल था। लड़केकी बातें सुनकर उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह बड़े स्नेहयुक्त मधुर वचनोंमें बोली, 'ले बेटा! दूध ले ले।'

बालक एक लोटा उठा लाया और बोला, 'माँ! इसमें दूध दे दे।' ग्वालिनीने उसे दूधसे भर दिया और जाने लगी। वह समझता था कि ग्वालिनी उसे कठिनतासे आधा सेर दूध देगी, परन्तु जब देखा कि उसने बड़ी प्रसन्नतासे उसका एक सेर दूधका लोटा भर दिया है तो उसका लोभ बढ़ा और वह बोला, 'मैया! मुझे थोड़ा दूध और दे दे, इतने दूधकी भला कितनी खीर बनेगी?'

१. किसीके साथ राग-द्वेष मत करो।

२. यदि तुमसे किसीका कुछ भला हुआ है तो उसे भूल जाओ।

३. दूसरोंके दुःखको अपने ही दुःखके समान समझो।

४. जहाँतक बने तन, मन, धनसे सबकी सेवा करो।

५. किसीकी कोई वस्तु लेनेकी इच्छा मत करो।

६. हर समय परमात्माके किसी भी नामका प्रेमपूर्वक जप किया करो।

७. अपने प्रति क्रोध करनेवालेपर भी क्रोध मत करो। जिस प्रकार वृक्ष पत्थर मारनेपर फल देते हैं, उसी प्रकार अपना अपकार करनेवालेका भी उपकार ही करो। इससे तुम्हारा चित्त शान्त हो जायगा।

८. अपनेसे बड़ोंका सदा आदर करो। सर्वदा मीठी बोली बोलनेका अभ्यास करो। अपनेसे बड़ा हो अथवा छोटा—किसीसे बिगड़कर मत बोलो। मीठी बोलीमें अमृत है। जो मीठी बोली बोलता है, सब जीव उसके अधीन हो जाते हैं और उससे प्रेम करने लगते हैं। प्रेम ही परमात्माका स्वरूप है।

'जो पुरुष इन नियमोंका पालन करता है, उसका हृदय स्वच्छ हो जाता है और उसे सब ठौर परमात्माकी सत्ता अनुभव होने लगती है, फिर उसके लिये इस दुनियाका नकशा ही बदल जाता है। उसके चित्तमें समता आ जाती है। यहाँतक कि सब प्रकारके हानि-लाभ, जीवन-मरण एवं सुख-दुःखमें भी उस समस्वरूप परमात्मतत्त्वकी ही झाँकी होती है।

'सुमति! एक बात और ध्यानमें रखनेकी है। तुम्हारा व्यवहार बराबर सच्चा होना चाहिये। मनमें कुछ और मुखसे कुछ—ऐसा नहीं होना चाहिये। सच पूछो तो हमारे भीतर जैसा भाव होता

ग्वालिनी—'तू दूसरा बरतन ले आ। इसमें तो और आ नहीं सकता।'

बालक—'मैया! तू मुझे कितना दूध और दे देगी?'

ग्वालिनी—'मेरी तो टोकनी भरी है, तुझे जितना चाहिये उतना ले ले।'

बालक—'अच्छा, मैं जितना चाहूँ उतना दूध तू देगी?'

ग्वालिनी—'हाँ, मैं तुझे मनमाना दूध दे दूँगी, परन्तु तू आवश्यकताके अनुसार ले ले, अधिक लालच न कर। बेटा! लालच तो सदा दुःख और पश्चात्तापका ही कारण होता है। देख, तू मेरी एक बात मान ले। तुझे इस समय खीरकी इच्छा है, इसलिये तू खीर मत बना, केवल दूध पी ले। खीर बनानेके झंझटमें पड़ेगा तो चावल और चीनी भी माँगनी पड़ेगी।'

बालकने सोचा, 'कहती तो ठीक है; लाओ दूध ही पी लूँ।' यह सोचकर वह दूध पीने लगा, किन्तु थोड़ी ही देरमें उसकी खीर खानेकी इच्छा फिर प्रबल हो गयी और उसने कहा, 'मैं तो खीर ही खाऊँगा, तू मुझे और दूध दे दे।'

ग्वालिनी—'अच्छा तो तू दूसरा बरतन ले आ।'

बालक—'मेरे पास दूसरा बरतन तो है नहीं।'

ग्वालिनी—'तो मैं किसमें दूध दूँ?'

बालक—'मैं इस दूधको पिये लेता हूँ, फिर इसमें और भर देना।'

बालककी बात मानकर ग्वालिनी उसे दूध पिलाकर तथा उसका लोटा भरकर चली गयी। अब बालक खीर बनानेकी चिन्तामें लगा। सोचने लगा, 'अब कहींसे चावल और चीनी लानी चाहिये, किन्तु पीछे यदि दूधको कोई कुत्ता-बिल्ली आदि पी जायगा तो कैसे होगा?' सोचते-सोचते उसे एक बात ध्यानमें

आयी। उसने सोचा—मैं दूधको आगपर रखकर चला जाऊँगा तो उसे कोई जानवर नहीं पी सकेगा। बस, वह दूधको आगपर रखकर चावल और चीनी माँगने चला गया। भाग्यसे आज उसे सब चीजें मुँहमाँगी मिल गयीं। जब वह चावल और चीनी लेकर आया तो देखा कि सारा दूध उबलकर बरतनसे बाहर निकल गया है और जो थोड़ा-सा बचा है वह बरतनमें ही जल गया है। यह देखकर उसकी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया। उसे ग्वालिनीकी बात याद आयी और उसके कानमें वे मधुर स्वर गूँजने लगे, 'बेटा! तू खीर मत बना, खीर बनानेमें कष्ट होगा, तू दूध पी ले।' अब तो वह बहुत पछताया। ग्वालिनीके कहनेसे उसने जो दूध पी लिया था वही उसका रहा, बाकी सब तो तृष्णाकी आगमें जल गया।

इतनेहीमें ग्वालिनी दूध बेचकर इसी मार्गसे वापस लौटी। लड़केको उदास और रोते देखकर बोली, 'बेटा! क्यों रो रहा है?'

बालक—'मैं आगपर दूध चढ़ाकर चावल और चीनी माँगने चला गया था। मेरे पीछे सारा दूध उबलकर निकल गया।'

ग्वालिनी—'बेटा! तूने आगपर दूध क्यों चढ़ाया था। पहले चावल और चीनी ले आता।'

बालक—'पीछे कुत्ता-बिल्ली पी जाता तो?'

ग्वालिनी—'इससे उनका तो पेट भरता। अब तो न तेरा रहा न उनका।'

बालक—'बता माँ! अब मैं क्या करूँ? मैंने बड़ी मूर्खता की जो तेरा कहा नहीं माना। इसीसे मुझे दुःख हो रहा है। कृपा करके कोई ऐसी युक्ति बता कि किसी प्रकार मेरी यह इच्छा दूर हो जाय।'

ग्वालिनी—'बेटा! मेरी बात मान तो मैं तुझे नित्य थोड़ा-थोड़ा दूध पिला दिया करूँ।'

ग्वालिनीकी यह बात सुनकर लड़का बहुत प्रसन्न हुआ और बोला, 'माँ! मैं अब तेरा ही कहा मानूँगा। ग्वालिनीकी अपार कृपासे उसका हृदय कृतज्ञतासे भर गया था। वह सुबक-सुबककर रोने लगा। ग्वालिनीने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा, 'देखो बेटा! तुम्हारा बरतन छोटा था। उसमें खीर नहीं बन सकती थी। दूध ऊपरतक भरा हुआ था, इसीसे उबल गया। अब कल मैं तुम्हें एक पाव दूध दूँगी। तब तुम खीर बनाकर खा लेना।'

इस प्रकार कहकर जब ग्वालिनी जाने लगी तो लड़का बोला, 'माँ! तुम्हारा नाम क्या है? जो तुम न आयी तो मैं तुम्हारा पता कैसे पूछूँगा।'

ग्वालिनीने कहा—'मुझे रामा कहते हैं।'

ग्वालिनीके चले जानेपर लड़केने सोचा, 'मैं कहीं उसका नाम भूल न जाऊँ।' इसलिये वह उसका नाम रटने लगा। वह रामा-रामाके जपमें ऐसा लवलीन हुआ कि सारी रात निकल जानेपर भी उसे उसका कुछ पता नहीं लगा। दूसरे दिन जब ग्वालिनी आयी तो उसने लड़केको रामा-रामाकी ध्वनिमें मस्त पाया। लड़केका नाम भक्तू था। उसने भक्तू-भक्तू कहकर कई बार पुकारा। परन्तु उसकी इन्द्रियाँ तो अपने विषयोंको छोड़कर नामानन्दमें डूबी हुई थीं; वह ग्वालिनीका शब्द कैसे सुनता? जब ग्वालिनीने उसके सिरपर हाथ रखकर हिलाया तो वह बोला, क्या कहती हो माँ।' और फिर रामा-रामा ही रटने लगा।

ग्वालिनीने कहा—'बेटा! दूध ले ले।'

भक्तू—'दूध तो मैं पी चुका। रामा-रामा......'

ग्वालिनी—'वह तो तूने कल पिया था।'

भक्तू—'बस, मुझे और नहीं चाहिये। रामा-रामा.....'

ग्वालिनीने सोचा, 'कहीं लड़का पागल न हो जाय।' तब फिर आवाज दी, 'भक्तू बेटा! दूध ले ले।'

भक्तू—'माँ! मेरा बरतन छोटा है। जितना उसमें आता है, उतना मैं ले चुका और लूँगा तो गिर जायगा।'

इस समय भक्तू रामा-रामाकी धुनमें लगकर भूख-प्यास सब कुछ खो बैठा था। इसमें उसे इतना रस आ रहा था कि उसके आगे उसे कुछ भी नहीं सुहाता था। उसकी दूधकी सारी चाह शान्त हो चुकी थी। दूसरे दिन जब ग्वालिनी आयी तो उसने उसे बिलकुल शान्त बैठा पाया। ग्वालिनीको देखकर भक्तूने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बोला, 'माता! तूने मुझे बड़ा सुखदायी दूध पिलाया है। इसने तो मेरी काया-पलट ही कर दी।

ग्वालिनी—'बेटा! आज तुम्हारा क्या हाल है? कल तुम्हें क्या हो गया था! तुम रामा-रामा क्यों रट रहे थे?'

भक्तू—'माँ! मैंने तुम्हारा नाम तो इसलिये रटना आरम्भ किया था कि मैं उसे भूल न जाऊँ। परन्तु अब तो वह ध्वनि मेरे रोम-रोमसे निकल रही है और मेरा हृदय किसी गुप्त आनन्दको अनुभव करके झूम रहा है। माँ! तुम्हारे नाममें कोई जादू है क्या?'

ग्वालिनी—'बेटा! मेरे नाममें तो कोई जादू नहीं है। परन्तु सब नाम आनन्दकन्द श्रीभगवान्के ही हैं और वे सब जादूगरोंके गुरु हैं। उनका एक नाम 'रामा' भी है। मेरा नाम भी उसीसे मिलता-जुलता है। इसीसे उसमें इतनी मिठास है। तू यदि सांसारिक वासनाओंसे मुक्त होना चाहता है तो निरन्तर राम-नाम रटा कर।'

इसके पश्चात् भक्तूको दूध देकर ग्वालिनी चली गयी। भक्तूने उससे राममन्त्र पाकर निरन्तर उसीको रटना आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे उसकी सारी वासनाएँ शान्त हो गयीं और भगवत्कृपासे उसका अज्ञान नष्ट होकर उसे आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो गया। बादमें यह प्रसिद्ध महात्मा हुआ।

'देखो, सुमति! यह सब भी उस ग्वालिनीके सत्संगका ही प्रभाव था। खीरकी इच्छाने उसे कितना तंग किया, यदि उसे इस साध्वी ग्वालिनीका संग न होता तो न जाने कैसी दुर्दशा होती। यह तृष्णा ही मनुष्यको नरकमें ले ढकेलती है। इसीके चक्रमें फँसकर उसे आत्मचिन्तनका समय नहीं मिलता। मनुष्यको चाहिये कि परमपिता परमात्माने उसे प्रारब्धके अनुसार जो कुछ दिया है, भगवान्का कृतज्ञ होकर उतनेहीमें सन्तुष्ट रहे। उससे अधिककी इच्छा न करे तथा अपने धर्मानुसार जो कुछ कर्म करे, उसके फलकी इच्छा न कर उसे भगवान्को समर्पण कर दे। ऐसा करनेसे उसका सब दुःख दूर हो सकता है।'

'सुमति! भगवान् तो सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनमें आनन्दके सिवा एक तृणको भी स्थान नहीं है। ऐसे आनन्दघन भगवान्को छोड़कर जो सांसारिक वासनाओंकी पोट बाँधे हुए हैं, उन्हें भला कब सुख मिल सकता है। देखो, वासनाओंका अन्त भोगके द्वारा कभी हो नहीं सकता। इसीसे जीव निरन्तर जन्म-मरणके चक्करमें पड़कर भटकता रहता है। किन्तु जो पुरुष वासनाओंके प्रलोभनोंकी ओरसे मुख मोड़कर भगवद्भजनमें लग जाता है, उसके सारे दुःखोंका सर्वदाके लिये अन्त हो जाता है। इसलिये निरन्तर भगवत्स्मरणका ही प्रयत्न करना चाहिये।'

इसके पश्चात् शान्तिदेवी सितार बजाकर यह पद गाने लगीं—

यह जग है गोरखधंधा। मत बोल किसीको मंदा॥ टेक॥
एक हाड़ चाम है इसमें। मल मूत्र भरा है जिसमें॥
इस तनुको लख तू गंदा। मत बोल किसीको मंदा॥ १॥
मत कुटुँब देख तू फूलै। मत धन-यौवनमें भूलै॥
यह बिछा मोहका फंदा। मत बोल किसीको मंदा॥ २॥

बहिन! तुमने देखा होगा गोरखधंधा लोहे या पीतलके तारोंका बना हुआ एक यन्त्र होता है। उसे इधर-उधर घुमानेसे कुछ-का-कुछ बन जाता है। इसी प्रकार संसारकी दशा है। इसका कभी कोई भरोसा नहीं करना चाहिये। संसारसे उदासीन रहकर आत्मकल्याणका ही प्रयत्न करना चाहिये। देखो, श्रीनारायणस्वामी कहते हैं—

तेरे भायें जो करौ, भलो बुरो संसार।
नारायन तू बैठिकै, अपनो भवन बुहार॥

किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम स्वार्थी बन जाओ। स्वार्थ तो अपने ही मनका एक मल है। उसे रखकर मनकी सफाई कैसे होगी? इसका तात्पर्य यही है कि दूसरोंके दोष न देखकर अपने दोष देखो तथा औरोंका सुधार करनेके पहले अपना सुधार करो। बहुत-से ऊँची जातिके लोग अपनेको उत्तम समझकर नीची जातियोंको तुच्छताकी दृष्टिसे देखने लगते हैं, किन्तु ऐसा करके वे उठनेके बजाय गिरते ही हैं। उन्हें विचारसे काम लेना चाहिये। शास्त्रने जो शूद्रोंको तीनों वर्णोंकी सेवा करनेकी आज्ञा दी है वह तो शूद्रोंका धर्म है, इससे ब्राह्मणादिको उनके प्रति हेयबुद्धि नहीं रखनी चाहिये। उन्हें तो उनके प्रति अपने छोटे भाईके समान स्नेहभाव ही रखना चाहिये; क्योंकि विचार करके देखा जाय तो उनका शरीर भी हाड़-मांस आदि वैसे ही अपवित्र पदार्थोंसे बना

हुआ है। इसलिये नाहक गर्व करना उचित नहीं है। और देखो सुमति! दूसरेमें बुराई और दोष ढूँढ़नेके पहले यदि मनुष्य अपने अन्दर देखे और अपना हृदय टटोले तो उसे अपने ही अन्दर अनेकों दोष और बुराइयाँ दीखेंगी। यह दोहा तुम्हें स्मरण होगा—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल ढूँढ़ा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

शान्तिदेवीका यह कथन सुनकर सुमतिको बड़ा आनन्द हुआ। उसका हृदय कृतज्ञतासे उनके चरणोंमें झुक गया, वह कहने लगी, 'धन्य हैं, बहिनजी! धन्य हैं। आपने मेरा सारा मोह नष्ट कर दिया। अब मैं सारी कामनाओंको छोड़कर आत्मानन्द प्राप्त करूँगी। आज आपकी बातोंसे मुझे अपूर्व सुख और शान्ति मिली है, ऐसा मालूम पड़ता है मानो आँखोंपरका पर्दा हट गया हो।'

शान्तिदेवी—'अच्छा, सुमति! अब मैं जाऊँगी। कल तुम मेरे साथ चलना। यहाँ हरिद्वारसे एक देवीजी पधारी हैं। वे स्त्रियोंको बड़ा सुन्दर उपदेश करती हैं। उनके यहाँ कुछ हरिचर्चा होगी।'

सुमति—'मैं पिताजीसे पूछूँगी। यदि उनकी आज्ञा मिल गयी तो अवश्य चलूँगी।' शान्तिदेवीने मुसकराकर कहा, 'यदि सत्संगके लिये तुम्हारी तीव्र इच्छा होगी तो कौन रोकेगा? रोका तो उन्हींको जाता है जो गृहकार्योंको बेकार समझकर उनकी उपेक्षा करती हैं, बात-बातमें झूठ बोलती हैं और अपने कर्तव्यका ध्यान नहीं रखतीं। वे यह नहीं जानतीं कि सब प्राणियोंमें एक ही आत्मा विराजमान है। इसीलिये बात-बातमें मुँह फुला लेती हैं और दूसरोंपर अपना क्रोध झाड़कर उन्हें दुःखी करती हैं। देखो बहिन! समता, संतोष, सत्संग और

विचार—ये ही मोक्षके चार द्वारपाल हैं। इनका सर्वदा संग करना चाहिये। जो लोग सेवा और सत्संगकी निन्दा करते हैं, वे तो स्वयं ही अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मारते हैं। परन्तु तुमने तो अपने सद्व्यवहारसे अपने सब सम्बन्धियोंको जीत लिया है। वे भला तुम्हें सत्संगसे क्यों रोकेंगे? संसारमें सत्संगसे बढ़कर कुछ भी नहीं है। जिस पुरुष या स्त्रीपर भगवान्‌की असीम कृपा होती है, उसीकी सत्संगमें प्रवृत्ति होती है, वही गुरुकी खोज करता है और फिर गुरुकृपासे आत्मज्ञान प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है।

इसके पश्चात् शान्तिदेवी अपने घर चली गयीं। उनके चले जानेपर सुमति अपने मनको इस प्रकार समझाने लगी—'अरे मन! तू सांसारिक इच्छाओंको छोड़। इन्हींके कारण अबतक तूने मेरे जीवनको दुःखमय बना रखा है। अब मैं अपनी इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंकी ओरसे हटाकर अन्तरात्मामें लगाऊँगी। इन इन्द्रियोंने ही मुझे सुख-दुःखके चक्रमें फँसा रखा है। ये जब किसी अनुकूल विषयको ग्रहण करती हैं तब मैं अपनेको सुखी समझने लगती हूँ और जब प्रतिकूल विषयको ग्रहण करती हैं तब दुःखी हो जाती हूँ। इन कानोंसे जब अपनी बड़ाई सुनती हूँ तो चित्त प्रसन्न हो जाता है और यदि कभी बुराई सुनती हूँ तो अपमान सहन न कर सकनेके कारण क्रोधमें भर जाती हूँ। बस, इन समस्त इन्द्रियोंका व्यापार इसी प्रकार मेरे सुख-दुःखका कारण हो रहा है। अब पहले मैं इन्द्रियोंको ही वशमें करूँगी। मनमें कभी किसीका बुरा नहीं सोचूँगी, हाथोंसे मनुष्यमात्रकी सेवा करूँगी, हृदयको प्रेमरंगसे रँगूँगी, प्रत्येक कार्य किसी प्रकारके फलकी इच्छा न रखकर भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये करूँगी। मुझे कोई भली कहे या बुरी, मैं सबके साथ समताका व्यवहार करूँगी। संसारके सब सम्बन्धियोंकी आसक्तिको

छोड़कर केवल आत्मचिन्तनमें ही सदैव तत्पर रहूँगी। जिस प्रकार भक्तू खीरकी वासना छोड़कर खीरवालीके नामकी धुनमें मतवाला हो गया था, उसी प्रकार मैं भी शरीर-सम्बन्धी वासनाओंको छोड़कर शरीरके स्वामीसे प्रेम करूँगी तथा मुझे प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त होगा, उसीमें सन्तुष्ट रहूँगी।' इस प्रकार चिन्तन करते-करते सुमतिका हृदय आनन्दसे भर आया और वह गाने लगी—

हे रे मन! मैं तो राम जपूँगी, राम जपूँगी, श्रीराम जपूँगी॥ टेक॥
तूने मुझको बहुत भुलाया, अब नहिं ऐसी भूल करूँगी।
हरिको अपना सखा बनाकर, हरिका ही अब नाम रटूँगी॥ १॥
पुण्य-पापमय कर्मजनित सब, सुख-दुःखोंको सहन करूँगी।
शुचि संतोष हृदय धारणकर, आत्मतत्त्वकी खोज करूँगी॥ २॥
सभी शुभाशुभ कर्मोंका मैं, मनसे पूरा त्याग करूँगी।
ऊँच-नीचका भाव न रखकर, सभी जनोंसे प्रेम करूँगी॥ ३॥
हे रे मन! मैं तो राम जपूँगी!

गुरुप्राप्ति

जबसे सुमति विधवा हो गयी थी, वह बराबर किन्हीं ऐसे गुरुदेवकी खोजमें रहती थी, जो उसे सारे सांसारिक तापोंसे छुड़ाकर परमपदमें प्रतिष्ठित कर सकें। आज अपने पिताजीसे आज्ञा लेकर वह भोजनादिसे निवृत्त हो श्रीशान्तिदेवीके साथ हरिद्वारवाली देवीके पास पहुँची। वहाँ उसने देखा कि एक चौकीके ऊपर पवित्र कुशासन बिछा हुआ है। उसके ऊपर एक अत्यन्त तेजस्विनी संन्यासिनी विराजमान हैं। उनका गेरुआ वस्त्रोंसे ढका हुआ सोनेके समान चमकता हुआ शरीर ऐसा मालूम पड़ता था जैसे आगकी लपटोंमें सोना रखा हो। उनके मुखारविन्दसे झरती हुई दिव्य मधुरता हठात् दर्शनार्थियोंको अपनी ओर खींच लेती थी। उनके दर्शन करते ही सुमतिको एक विचित्र शान्ति और आनन्दका अनुभव हुआ तथा उसका हृदय सहज ही उनकी ओर खिंचने लगा। जब सब बैठ गयीं तब कीर्तन आरम्भ हुआ—

अच्युतं केशवं रामनारायणं कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम्।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं जानकीनायकं रामचन्द्रं भजे॥

यह कीर्तन प्रायः बीस मिनटतक होता रहा, इसके पश्चात् देवीजीने अपना उपदेश आरम्भ किया—

बहिनो! तुम्हारा और सम्पूर्ण जीवोंका वास्तविक स्वरूप तो सत्य, ज्ञान और आनन्द ही है। तुम अपने इस सच्चे स्वरूपको भूलकर जो अपनेको देहादि मानने लगी हो, यही तुम्हारे दुःखका कारण है। तुम इस प्रकार मोहमें फँसकर इन विषय-भोगरूपी काँचके टुकड़ोंके लिये अपने जीवनके अनमोल रत्नोंको क्यों लुटाती हो? इस संसारको तो तुम एक नाट्यशाला समझो। इसमें तरह-तरहके स्वाँग खेलनेके लिये ही ये सारी सामग्रियाँ एकत्रित

की गयी हैं। इनमें कुछ लोग तो ऐसे हैं जो इस खेलमें ऐसे फँस जाते हैं कि इसकी असलियतको भूलकर इसे ही परम इष्ट मानने लगते हैं और कुछ इसकी असलियतको जानते हुए तटस्थभावसे अपना पार्ट खेलते हैं। इनमें जो पहले प्रकारके लोग होते हैं, उन्हें पशु-पक्षी एवं कीट-पतंगादि नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकना पड़ता है। यह सब मोहकी ही महिमा है। तुम्हारा वास्तविक स्वरूप तो सब प्रकारके मोह, अज्ञान और दुःखसे रहित है, तुम तो स्वयं प्रकाश हो। फिर यह आचरण कैसा? यह केवल भोगासक्तिका ही कुफल है। स्त्री, पुत्र, धन और इज्जतका मोह मनुष्यको अन्धा कर देता है। इससे वह ऐसा विवश हो जाता है कि कई बार किसी कर्मके परिणाममें अपनी हानिका निश्चय होनेपर भी उसे कर ही बैठता है। लोभ और मोहके कारण उसकी प्रत्येक वस्तुमें आसक्ति हो जाती है और अपनी ममताका जाल फैलाकर स्वयं ही उसमें फँस जाता है।

'ममतासे अभिमानकी वृद्धि होती है और उससे ईर्ष्याकी अग्नि सुलगने लगती है। जब दूसरोंकी बढ़ती हुई सम्पत्ति और प्रतिष्ठा देखता है तब उसका हृदय जलने लगता है और वह अकारण ही दूसरोंको दुःख देनेमें तत्पर हो जाता है। इस प्रकार उसका हृदय अत्यन्त मलिन हो जाता है। यदि द्वेषवश उससे किसीका कोई अपकार हो जाता है तो व्यर्थ भगवान्के सिर अपना दोष मढ़ने लगता है; किन्तु भगवान् कभी किसीसे भी कोई कुकर्म नहीं कराते। हमारी स्वार्थबुद्धि और विषयासक्ति ही सारी कुप्रवृत्तियोंकी मूल हैं। जिन महापुरुषोंके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है; उनपर मायाका जादू नहीं चलता। वे मायातीत हो जाते हैं।' उनकी महिमाका वर्णन करते हुए संतशिरोमणि श्रीकबीरजी कहते हैं—

माया तो ठगिनी भई, ठगत फिरै सब देश।
जा ठगने ठगनी ठगी, ता ठगकों आदेश॥

अर्थात् 'ठगिनी माया तो सारे संसारको ठगती फिरती है। जिस ठग (महात्मा) ने इस ठगिनीको ठग लिया है, उसे मेरा प्रणाम है।

एक दूसरे महात्मा कहा करते थे, भाई! यह दुनिया तो कुत्तेका बच्चा है। यदि इसे पकड़ने दौड़ो तो वह आगे-आगे भागता है और यदि छोड़ दो तो लौटकर तुम्हारी ही ओर आता है। परन्तु सावधान, तुम उसे पकड़ना मत, नहीं तो उसके मोहमें फँस जाओगे। संसारमें रहकर विषयसुखकी इच्छा मत करो। तुम जितनी इच्छा बढ़ाओगे उतना ही तुम्हें सुख कम मिलेगा। यदि सुख चाहते हो तो अपनी इच्छाओंको कम करो, अपनी आवश्यकताएँ घटाओ। तुम्हें जो कुछ सामग्री मिली है भगवान्का दिया हुआ समझकर भगवान्की सेवामें उसे लगा दो, उसे अपने स्वार्थमें नष्ट न करो। तुम शरीर नहीं हो, शरीर तुम्हारा है, तुम शरीर आदिके द्रष्टा हो। बस, तुम सबके द्रष्टा बने रहो। इससे विषय तुम्हें अपने ओर खींच न सकेंगे। इस बातको भूलना ही माया है, इसके रहते हुए तो मायाका कहीं पता भी नहीं लगेगा। स्वरूपका भूलना मायाका आना समझो।

'ऐ आनन्दकी खोज करनेवालो! आनन्द तो तुम्हारा स्वरूप ही है। तुम आनन्दको बाहर कहाँ ढूँढ़ते हो? भाई! सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द तो है। केवल विषयासक्तिके कारण ही तुम इस आनन्दसे वंचित हो रहे हो। यदि तुम्हें आनन्दकी चाह है तो संतोषकी शरण ग्रहण करो, विषय-भोगोंकी इच्छा छोड़ो। यदि इच्छा ही करनी है तो करो उस परम धनकी—जो सर्वदा तुम्हारे साथ रहनेवाला है। संसारी भोगोंकी इच्छा करना तो दुःख ही

मोल लेना है। तुम अपने मनको एकाग्र करके निजानन्द प्राप्त करो। इसके लिये भगवान्‌की कोई प्रतिमा सामने रखकर चित्त एकाग्र करनेका अभ्यास किया करो।

'जब कभी कोई काम करो तो याद रखो कि अन्तर्यामी भगवान् तुम्हारी प्रत्येक क्रियाको देख रहे हैं। ऐसा करनेसे तुमसे कोई बुरा काम नहीं होगा। तुमसे जो अच्छा काम बन जाय, उसे भगवान्‌की कृपा समझकर भगवान्‌को ही उसका फल समर्पण कर दो। इससे तुम्हारा चित्त गर्वहीन और राग-द्वेषरहित होकर शुद्ध हो जायगा और तुम्हें जीवनका सच्चा आनन्द प्राप्त होगा।

'बहिनो! मैंने पहले कहा था कि यह संसार एक नाट्यशालाके समान है। इसमें कुछ लोग तो नाटक खेलते हैं और कुछ लोग उसे देखते हैं। नाट्यशालामें खेल खेलनेकी सारी सामग्री रहती है। एक ही मनुष्य वेष बदलकर कभी राजा बनता है तो कभी भिखारी बन जाता है। वह कभी भोगी और लालचीका पार्ट करता है तो कभी योगी बन जाता है। परन्तु वह जिस समय जैसा पार्ट अदा करता है, उसे ज्यों-का-त्यों कर देना उसका प्रधान कर्तव्य है। इससे उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता, क्योंकि वह जानता है कि वास्तवमें मैं न राजा हूँ, न कंगाल हूँ, न भोगी हूँ और न योगी हूँ। मैं इन सबसे अलग हूँ। मुझे ये खेल अवश्य ठीक-ठीक करने चाहिये, क्योंकि इन्हींके लिये मुझे वेतन मिलता है।

'इसी प्रकार हम सब भगवान्‌के सेवक उनकी इस नाट्यशालामें तरह-तरहके वेष धारण करके अभिनय करनेके लिये आये हैं। इसलिये हमें जैसा-जैसा पार्ट मिला है, उसको ठीक-ठीक खेलना चाहिये। यदि हम गृहस्थ हैं तो पति-पुत्र, माता-पिता एवं दूसरे सभी हित-नातोंकी सेवा करना, अपने सभी कार्योंको ठीक

समयपर पूरा करना, सबको प्रसन्न रखना, दैवयोगसे प्राप्त हुए सुख-दुःखको धैर्यके साथ भोगना तथा समयपर नित्य-नियम करना हमारा धर्म है। जो स्त्री या पुरुष प्राणियोंकी सेवा और भगवान्‌की पूजा करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हें भगवान् सद्‌गतिरूप वेतन देते हैं।

भगवान्‌ने जीवको जो भोग्य पदार्थ दिये हैं, वे भी उसके कल्याणके लिये ही हैं। उनका ठीक-ठीक इस्तेमाल करनेसे वह शरीरसे नीरोग रहेगा, मनसे प्रसन्न रहेगा और उसके हृदयमें बराबर शान्ति बनी रहेगी। लेकिन नासमझी और मोहसे हम उनको बुरे कामोंमें लगाकर दुःख ही उठाते हैं। विवेकी लोग तो विषयोंको दवाकी तरह मानते हुए उनमें चिपकते नहीं, वरं आत्मानन्दकी ही इच्छा करते हैं। वे जानते हैं कि आनन्द तो आत्माका ही स्वरूप है। जब चित्त किसी बाह्य वस्तुके लिये व्याकुल होता है तब उसे हासिल करनेपर उसमें कुछ थोड़ी देरके लिये चित्त ठहर जाता है। उस समय उसमें आत्मानन्दकी ही परछाईं पड़ती है। इसीसे अज्ञानी लोग समझते हैं कि विषयोंमें आनन्द है। परन्तु विषय तो जड़ हैं, भला उनमें आनन्द कहाँ! आनन्द तो तुम्हारे आत्माकी ही झलक है। जिसे इस आत्मानन्दका ठीक-ठीक अनुभव हो जाता है, उसके लिये तो सारे विषय नीरस हो जाते हैं। वह कभी उनमें फँसता नहीं।

परन्तु एक बात याद रहे। जिनका चित्त विषयोंसे उदासीन हो गया है, उन लोगोंको भी मायासे बराबर होशियार ही रहना चाहिये। बेखबर नहीं हो जाना चाहिये। यह ठगिनी हर समय अपना घात देखा करती है। जो इसे पकड़ना चाहते हैं, उनसे तो यह दूर भागती है और जो इसकी ओरसे मुँह मोड़ लेते हैं उनके पीछे लगी रहती है और दाँव देखा करती है। जो इसे चाहते हैं

वे तो इसके लिये मारे-मारे फिरते हैं और जो इसे नहीं चाहते उन्हें यह फँसानेका मौका ढूँढ़ती रहती है। किसीने कहा है—

माया छाया एक सी, बिरला जाने कोय।
भगतोंके पीछे पड़ी, सनमुख भागे सोय॥

'इसीसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी इसके चक्करमें आ जाते हैं। अतः इसकी ओरसे कभी गफलत नहीं करनी चाहिये। सावधान रहकर अपने-अपने आश्रम और वर्णके अनुसार अपना पार्ट खेल लेना चाहिये।'

'बहिनो! तुम सुख-दुःख और नफा-नुकसान आदि झगड़ोंसे अपनेको अलग समझो। झगड़े तो मन-बुद्धितक ही रहते हैं, आत्मातक इनकी पहुँच नहीं है। सच पूछो तो न हँसना सच्चा है न रोना। आत्मा तो केवल इनका साक्षी है। देखो, जब हम सोती रहती हैं तब संसार और शरीरके सुख-दुःख कहाँ चले जाते हैं? इसलिये तुम जगत्के सभी बखेड़ोंसे मनको अलग रखो, उनमें मनको उलझाना जीवन नष्ट करना है। प्रारब्धसे जो कुछ सुख-दुःख आ जाय उसे खुशी-खुशी झेल लो। उसे सहो। यह शरीर तो प्रारब्धाधीन है। जब जैसा कुछ आ पड़े भगवान्का भेजा हुआ समझो। यह जान लो कि सुख-दुःखसे तुम्हारा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है। तुम सर्वदा निर्भय और निर्द्वन्द्व रहो।'

'देखो, नाटकका कोई भी पार्ट ऊँचा-नीचा नहीं होता। उसकी अच्छाई-बुराई खेलनेवालेकी होशियारीपर निर्भर है। जो अच्छे खिलाड़ी होते हैं, उन्हें जो भी पार्ट खेलनेको मिलता है, उसीको वे कमाल कर दिखाते हैं। इसीमें उनकी कुशलता है। उसे कौन-सा पार्ट फिट होगा, इसकी तजबीज कम्पनीका मालिक करता है। ठीक उसी तरह इस जगन्नाट्यके सूत्रधार श्रीभगवान्ने तुम्हें जो भी पार्ट दिया है, उसे ठीक-ठीक खेलना ही तुम्हारा कर्तव्य है। जब तुम्हें कोई

खेल खेलना ही है तब जो भी खेलना पड़े उसे खूब सावधानीसे खेलो। तुम्हारा खेल तो मालिककी मर्जीसे उसकी प्रसन्नताके लिये है। तुम्हें उससे कुछ लेना-देना नहीं है। इसलिये तुम अपने स्वरूपको स्मरण रखते हुए सावधानीसे अपना कर्तव्य पालन करो। शरीरसे जगत्का कार्य करो, परन्तु मनसे भगवान्का चिन्तन करो। इस प्रकार संसारमें रहते हुए भी संसारसे परे रहकर कर्तव्य करना ही कर्मकौशल है, यही योग है और यही भगवान्को पानेका सबसे सुन्दर रास्ता है।'

'बहिनो! यह याद रखो कि पापमें जाते समय हर एकके दिलमें एक खटका होता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि कोई भीतरसे रोक रहा है। यही है अन्तरात्माकी आवाज। इसे अनसुनी करके हम पाप कर बैठते हैं और पीछे हाथ मलते और रोते-पछताते रहते हैं। यह जान लो कि इच्छा ही जीवको पापमें प्रवृत्त करती है। जब कोई कार्य इच्छाके विपरीत हो जाता है तब वही इच्छा क्रोधमें परिणत हो जाती है। यह कामना कितनी प्रबल है, इसका कुछ ठिकाना नहीं है। इसका पेट कितना ही भरे जाओ यह कभी अघाती नहीं। इसे जितने-जितने भोग्य पदार्थ मिलते जाते हैं, उतनी-उतनी ही इसकी भूख-प्यास बढ़ती जाती है। यह बात रात-दिन देखनेमें आती है कि जिस मनुष्यको पहले पेटभर भोजन नहीं मिलता उसे जब यथेच्छ अन्न मिल जाता है तब वह तरह-तरहके स्वादिष्ट पदार्थोंकी इच्छा करने लगता है। जब वे भी मिलने लगते हैं तब रहनेके लिये सुन्दर मकान, पहननेको अच्छे वस्त्र और सैरके लिये मोटर आदिकी इच्छा होने लगती है। भाग्यवश यदि इच्छा पूरी हो जाती है तो राज्यकी इच्छा करने लगता है। राज्य मिलनेपर चक्रवर्ती सम्राट् बननेकी कामना होती है और फिर इन्द्रपद चाहने लगता है। तात्पर्य यह है कि एक इच्छा पूरी नहीं होने पाती कि दूसरी और तीसरी खड़ी हो जाती

हैं। जबतक इच्छाएँ पूरी होती रहती हैं, यह संसार आनन्दमयी तरंगोंसे पूर्ण सुखका समुद्र ही जान पड़ता है; परन्तु यदि वे पूरी नहीं होतीं तो ईर्ष्या, द्वेष और क्रोधकी आँचसे मनुष्यका हृदय बेचैन हो उठता है। यह क्रोध ही मनुष्यको पापोंमें ढकेल देता है। अतः याद रखो, सारे दुःखोंकी जड़ इच्छा ही है। जिसने इच्छाओंको अपने अधीन कर लिया है वही ज्ञानी है। जिस प्रकार अग्निको धुआँ, दर्पणको मल और गर्भको झिल्ली ढके रहती है, उसी प्रकार आत्मस्वरूपको इच्छाओंने ढक रखा है। अतः जो इच्छाओंको जीत लेता है, उसीको आत्माका साक्षात्कार हो सकता है।

'अब यह बात तो आप सब समझ गयी होंगी कि सारे दुःखोंकी जड़ कामना है। यही तुम्हारा सबसे बड़ा शत्रु है। अब मैं इसका ठिकाना और जीतनेका उपाय बताती हूँ, ध्यानसे सुनना। कामनाकी उत्पत्ति विषय-सेवनसे होती है। मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा विषय-ग्रहण करता है, मनसे उसका चिन्तन करता है और बुद्धिसे उनके सुख-दुःखका निश्चय करता है। इस बुद्धिसे ऊपर आत्मा है। अतः कामका निवास मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें ही है। तुम बुद्धिसे ऊपर हो, इसलिये कामको जीतनेमें सब प्रकारसे समर्थ हो। किंतु इसके लिये एक बातकी बहुत अधिक आवश्यकता है—वह है वैराग्य। जबतक भोगोंमें वैराग्य नहीं होगा तबतक याद रखो इस कामरूप शत्रुको जीतना दुशवार है। याद रखो, संसारका प्रत्येक सुख-दुःखसे मिला हुआ है। उसे दुःखका विचार करके सुखकी लालसा छोड़ देनी चाहिये। जिस सुखके पीछे दुःख उठाना पड़े उसे भला सुख कैसे कहा जाय? इसलिये सबसे पहला काम यह है कि इन्द्रियोंको भोगोंकी ओरसे हटाओ, मनमें दृढ़ वैराग्य लाओ।

'यह माना कि इन्द्रियाँ बहुत प्रबल हैं; परन्तु मन इन्द्रियोंसे

अधिक बलवान् है; क्योंकि मनके इशारेके बिना इन्द्रियाँ कुछ नहीं कर सकतीं। मनसे बुद्धि बलवती है; क्योंकि बुद्धिके द्वारा विचार करके मनके वेगको रोका जा सकता है, इसलिये बुद्धिको शुद्ध करके उसके द्वारा कामरूप घोर शत्रुको शिकस्त करो। जो इस निजानन्दको जान लेता है, उसका कामरूप शत्रु स्वयं ही मर जाता है। निजानन्दका अनुभव करनेवाला तो अपनेको कर्ता-भोक्ता न मानकर केवल द्रष्टा समझता है। वह सब प्रकारके कार्य करते हुए भी उनसे अलग रहता है। जिस महाभागकी स्वरूपदृष्टि बनी रहती है उसपर काम-क्रोध आदि शत्रुओंका कुछ भी वश नहीं चलता।'

इस प्रकार उपदेश समाप्त होनेपर देवीजी सितार बजाकर गाने लगीं—

करो एकाग्र मन करके प्रभूका रात दिन सुमिरन।
दुईको दूर कर दिलसे करो निज रूपका चिन्तन॥ टेक॥
हटाकर वासना सारी, मिटाकर द्वेष भय चिन्ता।
त्याग कर मनके सब छल बल करो निज रूपका चिन्तन॥ १॥
प्रभूका नाम नित जपकर उन्हींके रूपमें चित धर।
मिटाकर ईर्ष्या उरसे करो निज रूपका चिन्तन॥ २॥
सभी आकार आदिकसे रहित जो विश्वभर्ता है।
वही है रूप तुम सबका करो निज रूपका चिन्तन॥ ३॥
वही है विश्वमें छाया, वही घट-घट समाया है।
वही जड़ और चेतनमें करो निज रूपका चिन्तन॥ ४॥
जो भूले रूप अपनेको वही दर-दर भटकते हैं।
अतः तज देह दर्शनको करो निज रूपका चिन्तन॥ ५॥
न भूलो रूप अपनेको वह सुख सागर अनूठा है।
सदा ही शान्तचित होकर करो निज रूपका चिन्तन॥ ६॥

तुम्हीं तो सत्य और चेतन तुम्हीं हो नित्य आनँदघन।
अगर हो शान्ति पाना तो करो निज रूपका चिन्तन॥ ७॥

इस प्रकार जब देवीजीने भजन समाप्त किया तो समस्त महिलाओंके हृदयोंमें एक अपूर्व शान्ति छा गयी। सर्वत्र नीरवताका विस्तार हो गया और सबकी मनोवृत्ति अन्तर्मुखी हो गयी। उस समय सुमति सोचने लगी—'देवीजीने यह बहुत ठीक कहा कि संसार एक नाट्यशाला है। मेरी इस आयुमें ही कितने पर्दे बदले हैं। कई बार हँसी-खुशीका समय आया; कई बार शोकके अवसर आये। देवीजीकी यह बात भी बहुत ठीक है कि इस नाट्यशालामें कोई लोग तरह-तरहके खेल करते हैं और कोई केवल उन्हें देखते हैं। इन्होंने कहा कि यदि सुखी जीवन चाहती हो तो किसी ब्रह्मवेत्ता गुरुकी शरण लो। मैं भी अब इनकी शरण लेकर अपना जन्म कृतार्थ करूँगी और इनसे सुखी जीवनके साधन पूछूँगी।'

दूसरे दिन अपने पिताजीसे आज्ञा लेकर सुमति देवीजीके आश्रमको चली। वह मार्गमें सोचती जाती थी, फलकी कामनासे कर्म करनेसे अन्तमें दुःख ही उठाना पड़ता है। मैं कामना क्यों करूँ? और किसके लिये करूँ? मुझसे लोग तरह-तरहकी बातें कहते हैं। कोई कहता है कि लड़का गोद ले लो, उससे चित्त बहला रहेगा! कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। यह सब कैसे भोलेपनकी बातें हैं। जिस प्रपंचमें फँसकर लोग स्वयं अनेक प्रकारके दुःख भोगते हैं, मोहवश उसीमें सुख समझकर मुझे भी फँसानेकी चेष्टा करते हैं। मैं कभी इन प्रलोभनोंमें नहीं फँसूँगी। ये सब तो दुःखके ही कारण हैं। क्या सभी बालक मेरे बालक नहीं हैं? प्रत्येक मनुष्यको सेवाभावसे ही कार्य करना चाहिये। अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें सौंपकर निष्काम भावसे कर्म करनेसे ही अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। हे दयामय प्रभो! वह दिन कब

आवेगा जब बिना किसी कामनाके स्वाभाविक कर्म होंगे, कर्ममें मुझे किसी प्रकारका न राग होगा न द्वेष। हे मनमन्दिरमें निवास करनेवाले मेरे करुणामय प्रभो! मुझे सब प्रकार अपना ही बना लो। हे दयानिधे! मैं आपकी शरण हूँ। इस प्रकार सोचती-सोचती सुमति देवीजीके आश्रममें पहुँची और उन्हें पुष्पहार पहनाकर प्रणामकर हाथ जोड़कर सामने खड़ी हो गयी।

देवीजी—'कहो कुशल तो है?'

सुमति—'दयामयी गुरुदेवि! आपकी कृपा है।'

देवीजी—'तुम्हारा नाम क्या है?'

सुमति—'मुझे सुमति कहते हैं।'

देवीजी—'अच्छा, सुमति! यह सामनेवाला आसन बिछाकर बैठ जाओ।'

देवीजीकी आज्ञासे सुमति आसन बिछाकर बैठ गयी। इस समय वह यही सोच रही थी कि स्वाभाविक कर्म कैसे हो सकते हैं? उसके बैठ जानेपर देवीजी कहने लगीं, 'बेटा सुमति! सुखकी खोज करनेवालेको सकाम कर्म तो कभी नहीं करने चाहिये। जबतक मनमें सकामभाव है तबतक राग-द्वेष नहीं निकलते और राग-द्वेष एवं अभिमानके रहते हुए कोई भी पुरुष सर्वत्र भगवान्‌को नहीं देख सकता। अत: जबतक सर्वत्र भगवद्दृष्टि न हो तबतक निष्काम भावसे कर्म करता रहे। निष्काम कर्मसे ही चित्तकी शुद्धि होती है और शुद्ध चित्तमें ही आत्मज्ञानका उदय हो सकता है। आत्मविद् होनेपर पुरुष सबको अपना ही स्वरूप समझने लगता है। फिर उसमें किसी प्रकारका दोष नहीं रहता। वह दैवी गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है। उसकी दृष्टिमें किसी प्रकारका भेद नहीं रहता और वह सबके साथ समतापूर्वक व्यवहार करने लगता है। उस महात्मासे स्वाभाविक ही शुभकर्म

महाराज श्रीकृष्ण रथपर घोड़ोंकी लगामें थामे बैठे हैं और अर्जुन उसके भीतरी भागमें स्थित हैं। रथ धीरे-धीरे चलता युद्धस्थलमें आ पहुँचा। वहाँ पहुँचनेपर अर्जुन उदास होकर रथसे उतर पड़ा। उसने अपने धनुष-बाण रथमें छोड़ दिये और भगवान्‌से हाथ जोड़कर कहा कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा।' बस, भगवान् भी रथसे उतर आये और अर्जुनसे बोले, 'तुम्हें युद्ध करनेमें क्या आपत्ति है?'

अर्जुन—'महाराज! मैं किससे युद्ध करूँ; आज जो मुझसे युद्ध करनेके लिये आये हैं वे तो सभी मेरे सगे-सम्बन्धी हैं। इन्हें मारनेसे तो मुझे बड़ा पाप लगेगा।'

भगवान्—'अर्जुन! तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो। संसारके जीवोंकी सारी प्रवृत्तियोंका प्रेरक तो एकमात्र मैं ही हूँ। तुम अभिमान छोड़कर सारे कर्म मेरे लिये करो। जो कुछ करो मुझे अर्पण कर दो। इससे तुम्हें कोई पाप न लगेगा। तुम मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सारे पापोंसे मुक्त कर दूँगा। देखो, तुम क्षत्रिय हो, युद्ध करना तुम्हारा धर्म है। तुम्हें अपने धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। यदि तुम मोहवश स्वधर्मका त्याग करोगे तो महान् दुःखमें फँस जाओगे। तुम मेरे आश्रित रहकर जीवन-मरण, हानि-लाभ और सुख-दुःखको समान समझो। यदि तुम मेरी बातपर विश्वास रखोगे तो मुझे ही प्राप्त कर लोगे।'

बड़ी देरतक सुमति ध्यानके इस आनन्दमें डूबी रही। यह दृश्य देखकर उसे बड़ा आनन्द हुआ। वह गद्‌गद होकर भगवान् आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंका स्पर्श करनेके लिये आगे बढ़ी। इतनेहीमें उसका ध्यान टूट गया। उसने आँख खोलकर देखा तो सामने शान्तिदेवी खड़ी हैं और गीता उनके हाथमें है। इसके पश्चात् वे दोनों सत्संगके लिये चल दीं।

सद्गुरुकृपा

जिस समय वे देवीजीके आश्रममें पहुँचीं उन्होंने देखा कि वे बड़ी शान्तमुद्रामें स्थित हैं तथा उनके वचनामृतका आस्वादन करनेके लिये वहाँ बहुत-सी भद्र महिलाएँ एकत्रित हैं। जब सब शान्तभावसे बैठ गयीं तो देवीजीने कहना आरम्भ किया।

देवीजी—जिसे संसार-बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा हो उसे निरन्तर संतसमागम करना चाहिये। सत्संगसे ही सच्चे वैराग्य और शान्तिकी प्राप्ति होती है। सत्पुरुष साधकके चित्तके छिपे हुए दोषोंको देखकर उनके मार्जनका मार्ग दिखा देते हैं। अतः उनकी कृपासे निर्मलचित्त होकर वह परम शान्ति प्राप्त कर सकता है। इस विषयमें मैं तुम्हें एक इतिहास सुनाती हूँ। पूर्वकालमें एक चक्रवर्ती राजा था। उसे सब प्रकारके भोग और ऐश्वर्य प्राप्त थे; किन्तु उसका चित्त बड़ा अशान्त रहता था। उसे सर्वत्र दुःख-ही-दुःख दिखायी देता था। राज्य-भोगादिमें उसे कहीं सुखका लेश भी दिखायी नहीं देता था।

एक दिन उसने गुरुजीके पास जाकर कहा, 'भगवन्! एक विशाल राज्यका अधिपति होनेपर भी मैं तरह-तरहकी चिन्ताओंका शिकार हो रहा हूँ। मुझे संसारमें दुःख-ही-दुःख दिखायी देता है। आप कृपाकर किसी प्रकार इस दुःखरूप संसारसे मेरा पीछा छुड़ाइये!'

गुरु—'राजन्! वह जगत् दुःखरूप नहीं है। दुःख तो मनुष्य स्वयं रच लेता है और जानते हो कैसे? किसी वस्तुमें मोह करके, किसी वस्तुके लिये लोभ करके, कहीं रागसे, कहीं द्वेषसे। अच्छा, यह बताओ, भोगोंसे तुम्हारा चित्त हटा या नहीं?'

राजा—'भगवन्! मैं तो अब राजपाट छोड़कर भगवद्भजन ही करना चाहता हूँ।'

गुरु—'अच्छा तो यह राज्य अपने शत्रुको दे दो और मेरे साथ चलो।'

गुरुजीकी आज्ञा होते ही उसने प्रसन्नतासे अपने विपक्षी राजाको अपना राज्य सौंप दिया। फिर सबसे पहले उसीसे भिक्षा माँगी और अपने स्त्री-पुत्रादिका मोह छोड़कर गुरुजीके साथ चल दिया। बहुत दिनोंतक निरन्तर गुरुजीके साथ रहनेसे उसका धन एवं स्त्री-पुत्रादिके साथ बिलकुल मोह नहीं रहा। उसके चित्तमें गुरुजीके प्रति बहुत अनुराग हो गया और उसे गुरुजीके बिना कहीं एक दिन रहना भी कठिन हो गया। अपने प्रति ऐसी आसक्ति देखकर गुरुजीने कहा, 'राजन्! यह मोह कैसा? मेरे शरीरमें तुम्हें ऐसा मोह नहीं करना चाहिये। यह शरीर तो नाशवान् है। यह बराबर तुम्हारे ही साथ नहीं रह सकता। जिस प्रकार पका हुआ फल डालसे टूटकर गिर जाता है, उसी प्रकार प्रारब्ध-क्षय होनेपर यह शरीर भी नष्ट हो जाता है। अतः तुम उसका साथ करो जो प्रत्येक शरीरका स्वामी है, जड-चेतन सबमें व्यापक है और अणु-अणुमें समाया हुआ है। उसीको जानने, उसीको पहचानने और उसीसे प्रेम करनेसे तुम्हारा परम कल्याण होगा।

यह उपदेश सुनकर राजा मन-ही-मन विचार करने लगा, 'गुरुदेवका कथन वास्तवमें बहुत ठीक है। भला, जब मोहसे बचनेके लिये घर-परिवार छोड़ दिया, राजपाट छोड़ दिया तो फिर कहीं भी मोह क्यों किया जाय। मोह कहीं भी किया जाय, दुःखरूप ही है। देखो, जब गुरुजी कहीं बाहर चले जाते हैं तो उनका वियोग कैसा असह्य हो जाता है? उस समय मैं कातर होकर कितना रोता और दुःखी होता हूँ?' फिर उसने गुरुदेवसे पूछा, 'भगवन्! इन लोभ-मोहादि शत्रुओंसे किस प्रकार छुटकारा हो सकता है?'

गुरुजी—'राजन्! मोहके पंजेसे छूटनेके लिये आत्मज्ञान ही एकमात्र रास्ता है। वह आत्मतत्त्व सर्वदा एकरस और सर्वत्र परिपूर्ण है। उसे प्राप्त कर लेनेपर सारे दुःख भाग जाते हैं। उसका ज्ञान होनेपर जड-चेतनकी गाँठ खुल जाती है और सब प्रकारकी शंकाएँ और कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। वही शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा जाननेयोग्य वस्तु है। वह सर्वव्यापी आत्मतत्त्व है। उसका कभी नाश नहीं होता।'

राजा—'महाराज! यह तो मैं जानता हूँ कि आत्मा ज्ञानस्वरूप, सर्वव्यापक, शान्त, निर्मल और अविनाशी है। वह देहादिसे भिन्न तथा शुद्ध साक्षीमात्र है। किन्तु यह बात मेरे लिये ऐसी प्रत्यक्ष नहीं है जैसे दर्पणमें मुख देखना। मैं आत्माका भी इसी प्रकार अपरोक्ष अनुभव करना चाहता हूँ। कृपया इसका कोई साधन बताइये।'

गुरुजी—'देखो, हृदयाकाशमें ब्रह्मचिन्तन करनेसे चित्त ब्रह्मस्वरूप हो जाता है और फिर अपने सच्चे स्वरूपका अनुभव करके जीव जन्म-मरणके चक्करसे छूट जाता है।'

राजा—'ज्ञानके साधन क्या हैं?'

गुरुजी—'संसारके व्यवहारसे अलग रहना, स्त्री-पुत्रादि किसीसे सम्बन्ध न रखना, हानि-लाभमें समान रहना, निरन्तर आत्मविचारमें लगे रहना, एकान्तसेवनमें प्रेम रखना, भीड़-भाड़ एवं मेले-ठेले आदिसे दूर रहना और 'आत्मज्ञानसे ही परमपदकी प्राप्ति होती है' ऐसा विश्वास रखना—ये सब ज्ञानप्राप्तिके साधन हैं। इनसे उलटा जो रास्ता है, वह अज्ञानकी ओर ले जानेवाला है। आत्मज्ञान संसाररोगको नष्ट करनेवाला और राग-द्वेषको दूर करनेवाला है। इसकी प्राप्ति अहंकारके शान्त हो जानेपर ही होती है।'

राजा—'गुरुदेव! यह अहंकार तो मेरे चित्तमें इन प्रकार जड़ जमा चुका है, ठीक जैसे कोई वृक्ष पहाड़पर जड़ पकड़कर खड़ा हो जाय। अतः कृपया आप इसे उखाड़नेका उपाय बताइये।'

गुरुजी—'पहले भोगोंमें सुख है, इस बुद्धिको चित्तसे निकाल दो। फिर हृदयमें भगवान्‌को बिठा करके यह विचार करो कि यह शरीर तथा संसारकी सारी चीजें नाशवान् हैं। असली और स्थायी वस्तु श्रीभगवान् ही हैं।' संसारके सभी पदार्थोंको क्षणभंगुर और नाशवान् समझनेपर तत्काल ही तुम आत्माकी अमरताका अनुभव करने लगोगे और स्वतः ही आत्मामें तुम स्थिर हो जाओगे। फिर तुम्हारे सारे संकल्प, भय, शोक, तृष्णा और मोह आदि दोष नष्ट हो जायँगे; शत्रु-मित्रादिमें भी तुम्हारी भेदबुद्धि नहीं होगी और तुम परमपद प्राप्त कर लोगे।

गुरुदेवके मुखसे ऐसा अमृतमय उपदेश सुनकर राजा आत्मस्वरूपमें स्थित रहनेका प्रयत्न करने लगा। वह अपने चित्तको शान्त रखता, भूख लगनेपर भिक्षान्न सेवन करता और तीन दिनसे अधिक एक स्थानपर नहीं रहता। इसी प्रकार घूमता-घूमता वह एक बार अपनी राजधानीमें जा पहुँचा। वहाँ उसने अपने मन्त्री आदिके घरोंसे भिक्षा माँगी। उन्होंने अपने पूर्व स्वामीको पहचान लिया और उसका विशेष सत्कार करना चाहा। तत्कालीन राजाने भी उसके पास जाकर उसका राज्य लौटानेकी इच्छा प्रकट की। परंतु अब वह सब प्रकारकी इच्छाओंसे परे जा चुका था। इसलिये अपने निश्चयमें स्थिर रहा तीन दिन केवल भिक्षावृत्तिसे निर्वाह कर वहाँसे चलता बना।

इसी प्रकार घूमता-घूमता वह गुरुदेवके पास पहुँचा और फिर उन्हींके साथ विचरने लगा। अब राजा आत्मतत्त्वकी उपलब्धि करके कृतकृत्य हो चुका था। उसका चित्त बिलकुल शान्त रहता था। उसे किसी प्रकारके संकल्प-विकल्प नहीं उठते थे तथा शरीरके

रहने-न-रहनेकी भी कोई चिन्ता नहीं थी। अब सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि सभी हालतोंमें उसे किसी प्रकारका सुख-दुःख नहीं होता था। वह निरन्तर समतामें स्थिर रहता था। इस प्रकार गुरुदेवके साथ विचरता-विचरता वह एक देशमें पहुँचा। वहाँके राजाका देहान्त हो चुका था। उसका कोई उत्तराधिकारी भी नहीं था। इसे पहचानकर वहाँके कर्मचारियोंने इसका राज्याभिषेक कर दिया। यह असंगभावसे वहाँका शासन करने लगा। कुछ दिनोंमें इसके पूर्व राज्यके अधिकारियोंने भी सूचना दी कि जिस राजाको आपने अपना राज्य सौंपा था, वह परलोकवासी हो गया है और उसको कोई संतति नहीं है। अतः आप उसे पुनः स्वीकार करके हमें अनुगृहीत कीजिये। राजाने उस राज्यका प्रबन्ध भी अपने हाथमें ले लिया और वह सर्वथा निर्लिप्तभावसे दोनों राज्योंका पालन करने लगा। इस प्रकार सत्संगके प्रभावसे उसे ऐश्वर्यके साथ अविचल शान्ति भी प्राप्त हो गयी।

यह सब सुनाकर देवीजीने कहा—'सुमति! यदि तुम सच्चा सुख चाहती हो तो इस राजाके समान त्यागवृत्ति स्वीकार करो। धन-जन आदि मायिक पदार्थोंसे चित्तको हटाओ। इन सब वस्तुओंको नाशवान् समझो। जबतक चित्त धन-जन आदिसे हटता नहीं तबतक घर-बार छोड़ने एवं गुरुशास्त्रादिके उपदेश सुनते रहनेसे भी विशेष लाभ नहीं होता। किन्तु जब चित्तमें विषयोंसे उपरति हो जाती है तो घर और वन बराबर हो जाते हैं। सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान् तो घट-घटमें विद्यमान हैं; उन्हें विवेकवती बुद्धिसे खोजकर प्रत्यक्ष कर लेना है।'

इसके पश्चात् वहाँ आयी हुई सब महिलाएँ अपने-अपने घर चली गयीं, केवल सुमति ही वहाँ बैठी रह गयी। देवीजीने उसे हाथ पकड़कर उठाया और पूछा, 'सुमति! क्या कर रही हो?'

सुमतिने देवीजीके चरणोंमें अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम करते

हुए कहा, 'जय गुरुदेवि! आपकी सदा ही जय हो। आपने आज बड़ा ही अद्‌भुत उपदेशामृत पान कराया है। पहले तो मैं समझती थी कि बिना घर-बार छोड़े शान्ति नहीं मिलेगी। इसीलिये पहले मनमें बार-बार यह विचार आता था कि घर-द्वार छोड़कर हरिद्वार या ऋषिकेशके किसी एकान्त स्थानमें जाकर भजन करूँगी। परन्तु अब आपने मेरी आँखें खोल दीं। सचमुच जबतक चित्तमें भोगोंसे उपरति नहीं होगी तबतक वनको जाना भी वृथा ही है। अब मैं घरमें रहते हुए ही सब प्रकारके सम्बन्धोंसे दूर रहकर अपनी बुद्धिरूप गुफामें सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान्‌की खोज करूँगी।'

देवीजी—'सुमति! इस संसारकी कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है—यह जान लेनेपर भी मन बार-बार भोगोंकी ओर दौड़ा करता है। बहुत लोग गृहस्थाश्रमके झंझटोंसे बचनेके लिये घर-बार छोड़कर वनमें चले जाते हैं। किन्तु मन बड़ा चंचल है। कुछ ही दिनों बाद वे वनमें बैठे-बैठे विषयोंका चिन्तन करने लगते हैं। फिर उन्हें अपने गृहत्यागके लिये पश्चात्ताप होने लगता है, क्योंकि विरक्त जीवनमें भोगोंकी प्राप्ति तो कठिन ही है। किन्तु जो सच्चे त्यागी होते हैं वे तो सुख-दुःखमें समान रहते हैं। वे गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी भोगोंमें आसक्त नहीं होते तथा संसारको नाशवान् समझकर परम शान्ति प्राप्त करते हैं। वस्तुतः शान्ति या आनन्द विषयोंमें नहीं है। वह तो पवित्र मन,पवित्र विचार और पवित्र संकल्पमें ही है। जहाँ सत्य और प्रेमका निवास है, वहीं सुख और शान्ति भी रहते हैं।

'जो मनुष्य अभिमान और कुटिलताको छोड़कर सरलता, प्रेम एवं सत्यका आश्रय लेता है, स्वार्थको छोड़कर परोपकारमें लगा रहता है, दूसरोंकी भलाईमें तत्पर रहता है और कष्टके समय भी सन्मार्गसे नहीं हटता, वही सुख और शान्ति प्राप्त कर

सकता है। जो प्राणिमात्रको सुखी देखकर सुखी होता है तथा दूसरोंके दुःखको अपना ही दुःख समझकर यथासाध्य उसके दूर करनेका प्रयत्न करता है, वह निश्चय परम शान्ति प्राप्त कर लेता है।'

'वास्तवमें तो स्वर्गीय सुख और शान्ति हमारे भीतर ही हैं। उसके ऊपर ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार तथा स्वार्थका पर्दा पड़ा हुआ है। इसे प्रयत्नपूर्वक हटा दो; बस, सुख-शान्ति तो तुम्हारे घरकी ही चीजें हैं। जबतक चित्तसे ईर्ष्या-द्वेषादि नहीं मिटेंगे, तबतक कभी सुखकी प्राप्ति हो नहीं सकेगी। यह सुख तो हमारा स्वरूप ही है। इसे यदि मनुष्य-जीवनमें प्राप्त न किया तो फिर कब करेंगे? बस, इसे पानेके लिये हमें तैयार हो जाना चाहिये।'

'सच्चा सुख तो वही है जो अपने हाथमें है। जो सुख दूसरोंसे प्राप्त होता है उसमें तो दुःख मिला रहता है। इन्द्रियजनित सुख भी दूसरेके अधीन हैं, क्योंकि वह विषयोंसे प्राप्त होता है; इसलिये वह दुःखरूप ही है। वह परिणाममें दुःख और पश्चात्तापका ही कारण होता है, अतः उसे यथाशक्ति छोड़नेकी ही चेष्टा करनी चाहिये। जो मनुष्य अपने मन और इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे रोक सकता है, उसे ही स्थायी शान्ति प्राप्त हो सकती है।

'सुमति! तुम निश्चय जानो कि अच्छे संकल्पसे सुख और बुरे संकल्पसे दुःख होता है। अतः जिन्हें सुख और शान्तिकी इच्छा हो, उन्हें अपने संकल्पोंको पवित्र बनाना चाहिये। जितने ही हमारे संकल्प पवित्र होंगे, उतने ही हम अधिक सुखी बन सकेंगे। इसके लिये सत्संगकी बहुत आवश्यकता है। सत्पुरुषोंका संग, सद्ग्रन्थोंका मनन, सद्विचारोंका आश्रय और आत्मनिरीक्षण—ये ही परम शान्तिके प्रधान साधन हैं। इसके सिवा निरन्तर परमात्मचिन्तनका

भी प्रयत्न करना चाहिये। वस्तुतः परमात्मा ही सम्पूर्ण सुखका भण्डार है। उसीके लेशमात्र सुखसे सांसारिक पदार्थोंमें सुखकी झलक दिखायी देती है। वह सर्वत्र है। उससे हमारा नित्य सम्बन्ध है। हम अज्ञानसे ही उसे दूर समझते हैं; वास्तवमें जो वह हमारा अत्यन्त समीपी और निजी बन्धु है। यही नहीं, वह तो हमारा अपना आप ही है। बस, केवल सच्चे प्रेमकी देरी है, फिर तो हम सर्वदा उसका अनुभव करते हुए आनन्दमग्न रह सकते हैं।'

'आनन्द पानेका मैं एक और उपाय बताती हूँ, ध्यानसे सुनो। स्थिर आसनसे बैठकर एकाग्रचित्तसे ऐसा ध्यान करो कि 'मैं आनन्द हूँ। मेरे सब ओर आनन्दका समुद्र उमड़ा हुआ है। वह आनन्दसमुद्ररूप परमात्मा मुझसे अलग नहीं है। वस्तुतः मैं और वह एक ही हैं। जिस प्रकार अग्निमें तपाया हुआ लोहेका गोला अग्निरूप हो जाता है, उसी प्रकार आनन्दरूप परमात्मासे व्याप्त और उसीका अंश होनेके कारण मैं भी आनन्दरूप ही हूँ। बस, सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है।' इस प्रकार आनन्दका चिन्तन करनेसे तुम निरन्तर आनन्दमग्न रह सकती हो।'

अपने जीवनको ऐसा बनाओ कि कोई भी सांसारिक पदार्थ तुम्हें ललचा न सके। अपनी चित्तवृत्तिको बाहरसे हटाकर अपने भीतर ले आओ और ऐसा अनुभव करो कि मैं ही सच्चिदानन्द हूँ। यदि संस्कारवश कभी तुम्हारा चित्त विषय-भोगोंके लिये बेचैन होने लगे तो विचारपूर्वक उसे विषयोंसे हटाकर अपने पहले अनुभव किये सद्भावोंकी स्मृतिमें लगाओ। यदि तुमने कभी कोई भक्ति या वैराग्यजनक दृश्य देखे हों तो उनका ध्यान करो। भक्तोंके चरित्रोंका स्मरण या स्वाध्याय करो अथवा भक्तोंकी लीलाएँ देखकर अपने चित्तको सावधान करो। निराश

और निर्बलताको कभी पास मत फटकने दो। जैसे बने वैसे अपने चित्तको समाहित एवं शान्त करो। विश्वास रखो, प्रभुकी सारी शक्ति तुम्हारी सहायता कर रही है और तुम्हें आगे बढ़ा रही है। ऐसी अवस्थामें अपनी ज्योति मिलाकर एक हो जाओ।'

'यह संसार स्वरूपसे परिवर्तनशील है। यह सर्वदा एक-सी दशामें नहीं रह सकता। इसमें सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरण और सर्दी-गर्मी आदि आते-जाते हैं। इस चक्रको कोई रोक नहीं सकता। किन्तु उलट-फेरसे घबड़ाना नहीं चाहिये; क्योंकि आत्माका तो इनसे कभी किसी प्रकार सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। हमें अज्ञानके कारण ही अपने साथ इनका सम्बन्ध जान पड़ता है। इसका कारण केवल देहासक्ति ही है। अतः 'मैं देहादिसे भिन्न हूँ, 'मैं आत्मा हूँ'—इस प्रकार निश्चय रखकर देहजनित सुख-दुःखादिसे क्षुभित मत होओ। इन्हें अपने अधीन रखो। मनुष्य-जीवन पाकर केवल आत्मशक्ति प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करो। यदि तुम इन्द्रियजनित भोगोंकी इच्छा छोड़कर आत्मानन्दमें ही संतुष्ट रहोगी तो काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकाररूप शत्रु तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेंगे। तुम्हारा जीवन श्रद्धा, प्रेम, विश्वास और शान्तिसे पूर्ण होगा। तुम्हारे द्वारा स्वभावतः ही सब प्राणियोंका उपकार होने लगेगा। इस प्रकार सारी वासनाओंका क्षय हो जानेसे तुम अपने चित्तको वशमें कर लोगी और वह शान्त एवं निःसंकल्प हो जायगा। शान्त और निःसंकल्प चित्तमें ही परमानन्द परमात्माका साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार हिलते हुए जलमें सूर्यका स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, उसी प्रकार चंचल चित्तवृत्तिमें आत्माका अनुभव नहीं हो सकता। उस परम तत्त्वकी उपलब्धि शान्त चित्तमें ही होती है और उसका अनुभव होनेपर जीव कृतकृत्य हो जाता है।'

'एक समयकी बात है, कोई ऋषि तपस्या कर रहे थे। उन्हें भगवान् शंकरने दर्शन दिया। भगवान्‌को देखकर ऋषिने उनकी परिक्रमा एवं पूजनादि कर उनसे आत्मतत्त्वके विषयमें प्रश्न किया। श्रीमहादेवजी बोले, 'यह देह देवालय है। इसमें आत्मा ही सनातन देव है। अज्ञानको त्यागकर इस शिवस्वरूप आत्मदेवका पूजन करो। सम्पूर्ण जीवोंमें एक ही आत्माको देखना ज्ञान है, मनको विषयोंसे रहित कर देना ध्यान है, मनके मलोंको निकाल डालना स्नान है और इन्द्रियनिग्रह शौच है।' ऐसा उपदेश करके श्रीमहादेवजी अन्तर्धान हो गये तथा इसका अनुसरण करनेसे ऋषिको भी कृतकृत्यता प्राप्त हुई।

'सुमति! यदि विषयोंमें सुख होता तो भला कौन आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा करता? सांसारिक तापोंसे संतप्त होनेपर ही जीव आत्मानन्दकी खोज करता है। यही जीवका परम लक्ष्य है। इसे पाये बिना कोई भी सुखी नहीं हो सकता। इसे पानेके लिये तीव्र वैराग्य और सच्ची जिज्ञासाकी आवश्यकता है। इसके लिये किसी प्रकारके जाति-बन्धन अथवा विद्याबुद्धि आदिकी कैद नहीं है। जिसे सच्ची जिज्ञासा है, वह स्त्री हो या पुरुष, ब्राह्मण हो या चाण्डाल, अवश्य इस परमधनको पानेका अधिकारी है। तुम प्राणपणसे इसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करो। इस विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन गाथा सुनाती हूँ।'

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी

'पूर्वकालमें याज्ञवल्क्य नामक एक ऋषि थे। उनकी मैत्रेयी और कात्यायनी दो स्त्रियाँ थीं। वे दोनों ही बड़ी सदाचारिणी और पतिव्रता थीं। परन्तु मैत्रेयी परमात्माके प्रति अनुरागिणी थी, कात्यायनीका मन सांसारिक भोगोंमें रहता था। जब याज्ञवल्क्यजी संन्यास ग्रहण करने लगे तो उन्होंने मैत्रेयीको अपने पास बुलाकर

कहा, मैत्रेयी! अब मैं गृहस्थाश्रमको त्यागकर संन्यासी होना चाहता हूँ। तुम मेरे सामने ही इस सारी सम्पत्तिको आधी-आधी बाँट लो, जिससे मेरे चले जानेपर इसके लिये तुम्हारा कोई झगड़ा न हो और तुम्हारा जीवन सुख एवं शान्तिपूर्वक व्यतीत हो सके।'

पतिकी बात सुनकर मैत्रेयीने सोचा, 'मनुष्य किसी वस्तुको छोड़नेके लिये तभी तैयार होता है, जब उसे उसकी अपेक्षा उत्तम वस्तु मिलती है। पतिदेव घर-बार छोड़कर वनको जा रहे हैं, इससे जान पड़ता है उन्हें भी कोई ऐसी ही उत्तम वस्तु मिल गयी है, जिसके आगे घर और धन आदि तुच्छ हो गये हैं। इनके यहाँसे जानेमें अवश्य कोई ऐसा ही कारण होगा।' यह सोचकर उसने याज्ञवल्क्यजीसे कहा—'भगवन्! यदि मुझे धन-धान्यसे पूर्ण यह सारी भूमि मिल जाय तो क्या मैं उससे अमृतत्त्व प्राप्त कर सकती हूँ?'

याज्ञवल्क्य—'नहीं, धनसहित पृथ्वीको पाकर तो मेरा जीवन धनवानोंका-सा हो सकता है; धनसे अमृतत्त्व नहीं मिल सकता। इससे मोक्षरूप परमधनकी प्राप्ति नहीं हो सकती।'

मैत्रेयी—'जिससे मैं मृत्युसे नहीं बच सकती उस वस्तुको लेकर मैं क्या करूँगी? आप मुझे वह मोक्षरूप परमधन प्रदान कीजिये, जिसके लिये आप घर-बार छोड़कर जा रहे हैं। मैं जानती हूँ, इस धनकी अपेक्षा वह अवश्य ही अधिक मूल्यवान् होगा।'

याज्ञवल्क्य—मैत्रेयि! मुझे तू पहलेसे ही अधिक प्रिय है। अब तेरे मुखसे आत्मज्ञानविषयक जिज्ञासा सुनकर तो मेरा प्रेम और भी बढ़ गया है। आ मेरे पास बैठ, मैं तुझे आत्मज्ञानका उपदेश करूँगा। मैं जो कुछ कहूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनकर मनन करना। हे मैत्रेयि! स्त्रीको पति पतिके लिये प्रिय नहीं होता,

होते हैं। उसकी कहीं भी लाग-लपट नहीं रहती। इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये साधकको निरन्तर भगवद्भजनमें लगे रहना चाहिये। वे दयामय प्रभु अपने भक्तकी सारी जरूरतोंको खुद रफा कर देते हैं, यहाँतक कि वे भक्तको प्रेमानन्द प्रदान करनेके लिये ही निराकारसे साकार हो जाते हैं।'

यह सुनकर सुमति सोचने लगी, 'क्या सचमुच प्रेमी भक्तकी कामनापूर्तिके लिये ही भगवान् निराकारसे साकार हो जाते हैं?' तब उसके हृदयका भाव समझकर देवीजीने कहा, 'सुमति! इसमें शक नहीं करनी चाहिये। जो अनन्यभावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, उन्हें अवश्य भगवान्‌का दर्शन हो सकता है। एक महात्माका वचन है—

मन तुम्हारा एक है, चाहे जिधर लगा।
काम कर हरामका, या राममें लगा॥

इसलिये तुम सब प्रकारका संदेह छोड़कर भगवत्-चिन्तनका आश्रय लो। कुछ गीताका अभ्यास किया करो, क्या तुम उसके श्लोकोंका भाव समझ लेती हो?'

सुमति—'गुरुदेवी! मुझे संस्कृतका तो बिलकुल अभ्यास नहीं है। हाँ, कुछ भाषा जानती हूँ। इसलिये श्रीगीताजीके श्लोकोंके भावार्थका पाठ कर लिया करती हूँ।'

देवीजी—'अच्छा बेटा! तो मैं तुम्हें एक गीताजीकी पोथी देती हूँ। तुम मेरे पास आकर रोज कुछ श्लोक पढ़ जाया करो।'

यह सुनकर सुमतिको बड़ा आनन्द हुआ। वह नित्य गुरुमुखसे गीताध्ययन करने लगी। इससे उसके सब संदेह मिटने लगे। वह जिन श्लोकोंको देवीजीसे पढ़ती उन्हें एकान्तमें कण्ठस्थ किया करती थी। एक दिन घोखते-घोखते उसका ध्यान लग गया। उसने देखा एक बड़ा सुन्दर रथ है, जिसमें चार सफेद घोड़े जुते हुए हैं।

अपितु आत्माके लिये प्रिय होता है अर्थात् अपने सुखके लिये ही स्त्री पतिसे प्रेम करती है। इसी प्रकार पतिको स्त्री स्त्रीके लिये प्रिय नहीं होती, आत्माके लिये ही प्रिय होती है; पिताको पुत्र पुत्रके लिये प्रिय नहीं होता, आत्माके लिये ही प्रिय होता है; ब्राह्मण ब्राह्मणके लिये प्रिय नहीं होता, आत्माके लिये ही प्रिय होता है; क्षत्रिय क्षत्रियके लिये प्रिय नहीं होता, आत्माके लिये ही प्रिय होता है; वेद वेदोंके लिये प्रिय नहीं हैं, आत्माके लिये ही प्रिय हैं; देवता देवताओंके लिये प्रिय नहीं हैं, आत्माके लिये ही प्रिय हैं तथा भूत भूतोंके लिये प्रिय नहीं हैं, आत्माके लिये प्रिय हैं। हे मैत्रेयि! सभी पदार्थ उन पदार्थोंके लिये प्रिय नहीं होते, आत्माके लिये ही प्रिय होते हैं, वह परम प्रेमका आश्रयस्थान आत्मा ही वास्तवमें जानने, सुनने और मनन करनेयोग्य है। उस आत्माके जानने, सुनने, मनन करने और साक्षात्कारसे ही सब कुछ जान लिया जाता है। उसको जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है।'

इसके पश्चात् याज्ञवल्क्यजीने सबके साथ आत्माके अभेदका प्रतिपादन किया तथा एकमात्र अखण्ड एकरस सत्ताका वर्णन कर वे बोले—जबतक द्वैत रहता है, तभीतक दूसरा दूसरेको देखता है, दूसरा दूसरेको सूँघता है, दूसरा दूसरेको सुनता है, दूसरा दूसरेसे बोलता है, दूसरा दूसरेके विषयमें विचार करता है तथा दूसरा दूसरेको जानता है। किन्तु जब सबमें आत्मभाव हो जाता है अर्थात् 'सारी वस्तुएँ आत्मा ही हैं'। यह भाव स्थिर हो जाता है तो बताओ किसके द्वारा किसे देखे, किससे किसे सूँघे, किससे किसको सुने, किससे किसको स्पर्श करे, किससे क्या बोले और किससे किसको जाने। जिस आत्मतत्त्वसे इन सबको जानता है उससे वह किसके द्वारा जाने। हे मैत्रेयि! वह आत्मा

सत्-सुख ज्ञानरूप है तेरा, अति अद्भुत सुमहान।
तुझहीमें सब जगत् समाया, कर इसकी पहचान॥ ५ ॥
तेरे मन इन्द्रिय दसरथ हैं, उपरति कोसल-रानि।
होंगे प्रकट राम इनसे तू कर इनका नित ध्यान॥ ६ ॥
रामने रचना की है सारी रचा अखिल ब्रह्माण्ड।
रोम-रोममें वही रमा है लो अब उन्हें पहचान॥ ७ ॥
श्रवण मनन कर जाना जिसने आत्मरूप सुखखान।
होता परमानन्द मग्न वह त्याग सकल अज्ञान॥ ८ ॥
करो कामनाएँ सब अर्पण, रखो न कुछ अभिमान।
प्रेम प्रीतिसे आरत होकर, भजो सदा भगवान॥ ९ ॥
रखो न कोई इच्छा उरमें करो नित्य प्रभु ध्यान।
सबसे सदा मैत्री करके पाओ पद निरबान॥ १० ॥

इसके पश्चात् देवीजी नित्य-नियमसे निवृत्त होनेके लिये उठ गयीं तथा सब महिलाएँ भी अपने-अपने घर चली गयीं।

मनन

घर जाकर भोजनादिसे निवृत्त हो शयन करनेसे पूर्व सुमति सोचने लगी—सचमुच यह संसार नाट्यशाला ही तो है। जिस प्रकार नाटकमें परदे बदलते रहते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी अदल-बदल होती रहती है। कभी सुख आता है और कभी दुःख। सुखके समय हम फूले नहीं समाते और सुख-भोगके नये-नये उपाय सोचते हैं। रात-दिन इच्छाओंका जाल बिछाते रहते हैं। अपनेको बड़ा बुद्धिमान्, चतुर और वीर लगाते हैं। बस, जब सुखका परदा हट जाता है तो दुःख आ खड़ा होता है। हम देखते ही रह जाते हैं। सोचा कुछ था हो गया कुछ और; सारी बुद्धिमानी, चतुराई और वीरता लुप्त हो जाती है। बस, मायाको दोष देने लगते हैं। भगवान्‌को उलाहना देते हैं; किन्तु अब मैंने अच्छी तरह जान लिया, हमारे दुःखका कारण अज्ञान ही है।

कैसा है हमारा दुर्भाग्य कि हम सुखके समय तो उस सुखके दाता भगवान्‌को भूल बैठते हैं, परंतु जब दुःख आता है तो हाय-हाय चिल्लाने लगते हैं। हम ही सब कुछ हैं—ऐसा अभिमान करते हैं। वास्तवमें अभिमान ही हमें परमात्मासे अलग रखनेवाला आवरण है। जब भगवान् कृपा करके हमारे अभिमानको चूर कर देते हैं तो उस आवरणके हट जानेसे हम प्रभुके बहुत समीप हो जाते हैं तो इस अहंकारका नाश हुए बिना मायासे पार पाना बहुत कठिन है। इसीसे गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं कि माया बड़ी दुस्तर है। इसे वे ही पार कर सकते हैं, जो मेरी शरणमें आ जाते हैं। अहा! भगवान्‌ने संसार-समुद्रको पार करनेका यह कैसा सरल उपाय बताया है। किंतु खेद है कि हम संसार और शरीरको ही सब कुछ समझकर इसीमें इतराते फिरते हैं तथा मूर्खतावश अहर्निश

पाप-आचरण करते हुए सुखकी जगह तरह-तरहके दुःखोंमें फँस जाते हैं।

गुरुदेवजीके उपदेशसे मेरी समझमें यह बात खूब जम गयी है कि 'राग-द्वेष ही दुःखके कारण हैं। किसीसे सुख पानेकी आशा रखना भी दुःखका ही कारण है। विषय-भोगोंमें फँसकर आजतक किसीने सुख नहीं पाया; क्योंकि उनमें सुख है ही नहीं। सुख तो आत्माका स्वरूप है। तब मैं आत्मतत्त्वकी खोज न करके बाह्य विषयोंका चिन्तन क्यों करूँ। हमारी इन्द्रियाँ तो बाह्य विषयोंको ही ग्रहण करती हैं। मन सब इन्द्रियोंका अधिष्ठाता है। वही सुख-दुःखका भोक्ता भी है, किन्तु इन सबका साक्षी जो आत्मा है, वह इन सब इन्द्रियोंका अध्यक्ष होनेके कारण इन सबसे अलग रहकर इनके सुख-दुःखको देखता है।' इसके पश्चात् वह फिर सोचने लगी, प्रभो! मुझे ऐसी सामर्थ्य दीजिये कि मैं अपने मन और इन्द्रियोंको आपके चिन्तनमें लगा दूँ। मेरे विचारसे तो जबतक इन्द्रियोंका दमन न होगा, तबतक आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा।

इन्द्रियाँ दस हैं, जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। इनमें ज्ञानेन्द्रियाँ विशेष प्रबल हैं। उनके पाँच विषय हैं—नेत्रका विषय रूप है, जिह्वाका रस है, नासिकाका गन्ध है, त्वचाका स्पर्श है और श्रवणेन्द्रियका विषय शब्द है। कर्मेन्द्रियाँ विषय-भोगमें ज्ञानेन्द्रियोंकी सहायक हैं। इनके सिवा कोई और इन्द्रिय या विषय नहीं है। ज्ञानेन्द्रियोंका निग्रह करनेसे कर्मेन्द्रियोंकी चपलता स्वयं ही रुक जाती है। यदि ये स्वतन्त्र रहती हैं तो मन भी इन्हींके साथ मिल जाता है। इन इन्द्रियोंमेंसे प्रत्येक बहुत प्रबल है तथा एक-एककी प्रबलताके कारण ही पतंग, मछली, भौंरा, हाथी, हिरण आदि जीवोंका सर्वनाश हो जाता है; फिर

यदि हम इन पाँचोंके अधीन रहें तो हमारी दुर्गतिके विषयमें तो कहना ही क्या है। अतः हमें अत्यन्त सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

देखो, हरिणको पकड़नेवाला व्याध जंगलमें जाकर वीणा बजाता है। उसका स्वर सुनकर हरिण व्याधके पास आता और उसके चंगुलमें फँस जाता है। इस प्रकार केवल सुननेकी आसक्तिके कारण उसे अपने जीवनसे हाथ धोना पड़ता है। मैं भी अब चिकनी-चुपड़ी बातें सुनकर अपने स्वरूपको नहीं भूलूँगी। लोग अपनी प्रशंसा सुनकर फूले नहीं समाते और निन्दाके शब्द सुनकर शत्रु मानने लगते हैं, किन्तु मैं निन्दा या प्रशंसाकी परवा न कर दोनों स्थितियोंमें समान रहूँगी। भगवान् मेरे इस संकल्पमें सहायता करें।

रूपका लोभी पतंग प्रकाशको देखते ही मोहित हो जाता है और दीपककी शिखामें जलकर अपने प्राण निछावर कर देता है। रूपकी आसक्ति ही उसके सर्वनाशका कारण होती है। मैं सर्वदा इससे बचनेका प्रयत्न करूँगी। भौंरा गन्धके लोभसे अपने प्राण गँवाता है। वह गन्धके लिये ही कमलपर बैठता है और रात्रिके समय कमलके मुँद जानेसे उसीमें बन्द हो जाता है। यद्यपि वह काठमें भी छिद्र कर सकता है तथापि आसक्तिके कारण कमलकी कोमल पंखुड़ियोंको नहीं काटता। इतनेहीमें हाथी आता है और उस कमलको मसल डालता है। बस, उसके साथ वह भी पिस जाता है।

मछली स्वादकी आसक्तिसे काँटेमें फँसकर अपना प्राण गँवाती है तथा हाथी स्पर्शेन्द्रियके कारण गढ़ेमें गिरकर सदाके लिये परतन्त्रताके दुःखमें फँसता है। इस प्रकार एक-एक इन्द्रियके कारण इन प्राणियोंका सर्वनाश हो जाता है। तो क्या,

बिल्वमंगलने जैसे आँख फोड़ डाली थी, उसी प्रकार हमें अपनी इन्द्रियोंको नष्ट कर डालना चाहिये? नहीं, इससे तो उलटे हानि ही होगी। आवश्यकता तो वासनाओंके नाशकी है। यदि हमने इन्द्रियोंकी शक्तिको नष्ट कर दिया और उनकी वासनाएँ बनी रहीं, तब तो हमारा दु:ख ही बढ़ेगा। परमात्माने तो हमारे हितके लिये ही हमें विषय-ग्रहणकी शक्तिरूप इन्द्रियाँ दी हैं। हमारा कर्तव्य तो इनका सदुपयोग करना ही है, इसलिये मैं इनका सदुपयोग करके अपने जीवनको कृतार्थ करूँगी।

जिस प्रकार नीम, गिलोय और चित्रक आदि कड़वी ओषधियोंमें अनेकों गुण हैं और वे मनुष्यके स्वास्थ्यमें सहायक होती हैं, उसी प्रकार निन्दासे भी हमारा बड़ा उपकार होता है। वह हमें निर्दोष और सहनशील बनाती हैं। अत: अब यदि मेरी कोई शिकायत करेगा तो उसमें आनन्द मानूँगी तथा कानोंसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सेवा, सदाचार और परोपकार-सम्बन्धिनी अच्छी बातें सुनूँगी। पैरोंसे चलकर सत्संग और देवमन्दिरोंमें जाऊँगी। महापुरुषोंके अच्छे गुण, विद्वानोंके उपदेश और सद्गुरुके वाक्योंको सुनकर उनके अनुसार आचरण करूँगी तथा अपने आन्तरिक दोषोंको दूरकर सुखी जीवन व्यतीत करूँगी।

त्वचासे पदार्थोंकी उष्णता आदिका ज्ञान होता है। यदि यह इन्द्रिय न होती तो अग्नि आदि दाहक पदार्थोंसे जीवकी किस प्रकार रक्षा होती? और किस प्रकार वह शस्त्र एवं सर्पादि विषैले जीवोंसे बचता? इसलिये इस इन्द्रियका भी सदुपयोग करती हुई मैं अधिक-से-अधिक परमार्थमें लगनेकी चेष्टा करूँगी।

आँखोंके तो हमारे प्रति कई उपकार हैं। यदि यह इन्द्रिय न

होती तो हम भगवान्के दिव्य मंगलविग्रह, भगवद्धाम, भगवद्भक्त और संतजनोंके दर्शन कैसे करते? हमें चलते समय मार्ग कैसे दिखायी देता? तथा हम भगवान्की अनन्त लीलारूप इस जगत्को देखकर किस प्रकार प्रभुकी महिमाका अनुभव करते? अतः मैं नेत्रोंकी दुष्प्रवृत्तिको रोककर इनसे भगवद्विग्रह एवं सत्पुरुषोंका दर्शन करके इन्हें कृतार्थ करूँगी।

जीभमें बोलने और रस लेनेकी दो इन्द्रियाँ रहती हैं। वाक् कर्मेन्द्रिय है। इससे मनुष्य भगवच्चर्चा करके सद्गति प्राप्त कर सकता है तथा रसनासे पदार्थोंको चखकर उनके गुण-दोषको समझ सकता है; किंतु लोग नासमझीके कारण दूसरोंकी शिकायत करते हैं, झूठ बोलते हैं और गंदी बातें करके तथा अखाद्य वस्तुओंका सेवन करके अपने जीवनको नष्ट कर डालते हैं। मैं हमेशा मीठी बात बोलूँगी, कम बोलूँगी, सच बोलूँगी, भगवान्के गुण और नामोंका कीर्तन करूँगी तथा सत्पुरुषोंके साथ परमार्थ-चर्चा करके अपने जीवनको सफल करूँगी। कड़वी बातसे अपना भी दिल जलता है और सुननेवालेका भी। इसलिये मैं सदा इससे दूर रहूँगी। भोजन भी जैसा प्रारब्धवश मिलेगा, उसे ही भगवान्को भोग लगाकर भगवत्प्रसादरूपसे ग्रहण करूँगी। जीभके फंदेमें पकड़कर मैं कभी बाजारकी बनी गंदी चीजें न लूँगी।

नाकके द्वारा गन्धका ज्ञान होता है यदि यह इन्द्रिय न होती तो हमारे लिये स्वास्थ्य-रक्षा बड़ी कठिन हो जाती। इसका मतलब इत्र-फुलेल आदि शौकीनीकी चीजोंका मजा लूटना नहीं है। मैं इसके द्वारा भगवान्की चढ़ायी हुई तुलसी, पुष्प एवं अगरु आदिकी गन्ध ग्रहण करूँगी तथा सब प्रकारकी शौकीनी और तड़क-भड़कसे दूर रहूँगी।

इस प्रकार मैं सभी इन्द्रियोंको परमार्थके मार्गमें लगाऊँगी। यदि

हो गया । मुझे श्रवणेन्द्रियका वास्तविक फल प्राप्त हुआ। लोग इन्द्रियोंकी निन्दा करते हैं, किंतु मैं तो समझती हूँ भगवान्‌ने इन्द्रियाँ देकर हमपर बड़ा उपकार किया है। यदि मुझे श्रवणेन्द्रिय प्राप्त न होती तो मैं किस प्रकार शान्तिदेवीजीका उपदेश सुनती और फिर कैसे गुरुदेवजीके वचनामृतका आस्वादन करती। लोग इनका दुरुपयोग करनेसे तरह-तरहकी बुराइयोंमें फँसते हैं। इनके द्वारा अपनी बड़ाई सुननेसे अभिमान बढ़ता है तथा दूसरोंकी निन्दा सुननेसे पापके संस्कार जमते हैं। मैं सर्वदा धर्मचर्चा सुनूँगी तथा अपनी निन्दा-स्तुतिमें समान रहूँगी। संसारमें निन्दाके समान हमारा उपकार करनेवाला कोई नहीं है। यदि हम उसे सुनकर क्रोध और द्वेषको स्थान न दें तो वह हमारे सारे दोषोंका मार्जन करके हमें शुद्ध कर देती है। अपनी बड़ाई सुनकर अभिमान होता है। इसलिये बड़ाईसे सदा दूर रहना चाहिये। यदि हमसे कोई बड़ाईके योग्य कार्य हुआ है तो उसके प्रेरक तो श्रीभगवान् ही हैं। इसलिये वे ही प्रशंसाके पात्र हैं। बुराई अभिमानवश हमसे बनती है। इसलिये उसे सुनकर अपने अभिमानको कुचलनेकी कोशिश करनी चाहिये। भगवान् ऐसी कृपा करें कि मैं अपने जीवनको इन विचारोंके अनुसार ढाल सकूँ तथा संसारकी सारी आसक्तियोंसे बचकर एकमात्र उन्हींको अपना आश्रय समझूँ। हे दयामय! दया करो, दया करो, दया करो।

इस प्रकार प्रार्थना करते-करते सुमतिकी आँखें लग गयीं।

पर्वका दिन

दूसरे दिन पूर्णिमा थी। अनेकों यात्री दूर-दूरसे श्रीयमुनास्नानको आ रहे हैं। कोई मोटरमें, कोई लारीमें, कोई ताँगे और कोई छकड़ेमें जा रहे हैं। कोई पैदल ही चल रहे हैं। खूब धूमधाम मची हुई है। जगह-जगह पुष्पहार और फूल बेचनेवाले बैठे हैं। हलवाइयोंकी दुकानें सजी हुई हैं तथा खिलौने, बिसातीखाने आदि चीजें बेचनेवाले आवाजें लगा रहे हैं।

यमुनाजीके तटपर बड़ी चहल-पहल है। यात्री लोग 'जय यमुना मैया', 'जय कालिन्दी', 'जय सूर्यकन्ये' आदिकी ध्वनि करते हुए स्नान कर रहे हैं। कोई स्नान करके तटपर तिलक लगाकर ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे रहे हैं। कोई चादर ओढ़कर भगवान्‌का ध्यान तथा नाम-जप कर रहे हैं। कोई झाँझ, करताल और मृदंग आदि बजाकर नाम-संकीर्तन कर रहे हैं। इसी समय यमुनाजीकी ओरसे स्नान करके नाम-स्मरण करती हुई सुमति आ रही है। उसके मुखसे निरन्तर '**श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव॥**' इस मन्त्रकी ध्वनि निकल रही है। सुमतिको देखकर एक फूल बेचनेवालेने आवाज लगायी—'माताजी! हार-फूल लेती जाओ।'

सुमतिने पैसे निकालकर उससे हार और फूल मोल लिये तथा वहाँसे सीधे देवीजीके आश्रमकी राह ली। आश्रममें पहुँचकर उसने देवीजीको हार पहनाया तथा उन्हें दण्डवत् कर एक ओर बैठ गयी। देवीजीने पूछा, सुमति! कहो, कुशल तो है?

सुमति—'गुरुदेवि! धन्य है। आपकी कृपासे मेरे सारे दुःखोंका अन्त हो गया। मेरे लिये संसार अत्यन्त दुःखमय बना हुआ था। मुझे सर्वत्र अशान्ति-ही-अशान्ति दिखायी देती थी।

किंतु अब जबसे आपके श्रीचरणोंका आश्रय मिला है, तबसे मेरे लिये इसका दूसरा ही रूप हो गया है। जब भोजन करने बैठती हूँ, उस समय तो चित्त आनन्दमग्न रहता ही है, अन्य समय भी किसी गुप्त आनन्दमें झूमा करता है। यह सब श्रीचरणोंकी ही कृपा है।'

देवीजी—'देखो सुमति! मेरा काम तो बस राह दिखा देना है और उसमें आगे बढ़ना तुम्हारा काम है।'

सुमति—'यदि हमें सच्चे सुखका पता चल जाय तो उसके लिये कुछ भी उठा न रखूँगी। हम रात-दिन सुखके लिये ही प्रयत्न कर रही हैं, किंतु अन्तमें दुःख ही उठाती हैं। सच्चे सुखका मार्ग तो आप-जैसे संतोंकी कृपासे ही मिलता है। मैं बहुत दिनोंसे सुखके लिये बेचैन थी। इसी बेचैनीमें मेरी इतनी आयु बीत गयी, किंतु आजतक किसी भी सांसारिक वस्तुसे सुख न मिल सका।'

'बहुत बचपनमें ही मुझे माताकी गोद छोड़नी पड़ी। दुर्दैवने बहुत छोटी आयुमें ही मुझे मातृस्नेहसे वंचित कर दिया। छः वर्षकी आयुतक लोगोंको यह आशा रही कि अब विवाह होनेपर इसे सुख मिलेगा, परंतु मेरे भाग्यमें वह भी सुख नहीं बदा था। विवाहके कुछ ही दिन बाद मेरे पतिदेव भी परलोक सिधार गये। तब तो मेरे ऊपर मानो दुःखोंका पहाड़ ही टूट पड़ा, मुझे तो उस समय इस विषयमें कोई बोध ही नहीं था। मेरे पिताजी मेरे लिये बड़े परेशान थे। उनकी एक महात्मामें बड़ी श्रद्धा थी। एक दिन वे हमारे घर पधारे तो पिताजीने हम सब भाई-बहिनोंसे उनके चरणोंमें प्रणाम कराया। फिर उन्होंने उनसे मेरे लिये कोई कल्याणका साधन पूछा। महात्माजीने मुझे महामन्त्रका जप और भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करनेकी आज्ञा दी। उस समय मेरी

अवस्था केवल ग्यारह सालकी थी। तबसे मैं यही साधन करती रही हूँ।'

'उस दिनके पश्चात् फिर महात्माजीके दर्शन नहीं हुए; किंतु मेरे पिताजी और श्रीशान्तिदेवीजी सब प्रकार मुझे भगवान्के मार्गमें चलते रहनेके लिये उत्साहित करते रहे हैं। बहिन शान्तिदेवीजीका तो मेरे ऊपर बड़ा ही उपकार है। उन्हींके सत्संगसे मेरे चित्तमें इस दुनियाकी सारी बातोंसे वैराग्य हुआ है तथा उन्हींने मुझे आपके श्रीचरणोंतक पहुँचाया है। अब मैं अच्छी तरह समझ गयी हूँ कि यह संसार एक नाट्यशाला ही है। यहाँ कोई भी वस्तु सर्वदा ठहरनेवाली नहीं है, इसलिये इसमें चित्तको फँसाना भूल है।'

देवीजी—'बेटा सुमति! अब भजनके समय तुम्हारा चित्त भगवान्में खूब लग जाता है न? तुम्हें अपने साधनमें तो खूब श्रद्धा है न? तुमने इस संसारमें किस वस्तुको सार निश्चय किया है? तुम्हारा चित्त डावाँडोल तो नहीं रहता? क्या तुम्हें अपनी आनन्दस्वरूपताका अनुभव होता है?'

सुमति—'माताजी! आपके चरणोंकी सब प्रकार कृपा है। अब तो चित्त खूब शान्त हो गया है। अहा! आज रातको तो...।'

इतना कहकर सुमति चुप हो गयी। उसके मुखपर आनन्दकी रेखाएँ झलकने लगीं। तब देवीजीने पूछा, 'हाँ! बताओ न आज रातको तुमने क्या देखा?'

सुमति—'कल सोनेसे पूर्व मैं कुछ विचार कर रही थी। उसी अवस्थामें मुझे नींद आ गयी। तब मैंने एक विचित्र स्वप्न देखा।' मैं एक बगीचेमें खड़ी थी। वहाँ वृक्षोंमें लगे हुए रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्पको देखकर सोचने लगी—'अहा! भगवान्की कैसी अद्भुत कारीगरी है! उन्होंने मिट्टीमेंसे ही कैसे सुन्दर और

सुगन्धित पुष्प प्रकट किये हैं। अच्छा, मैं प्रभुके पूजनके लिये इनमेंसे कुछ पुष्प ले चलूँ।'

'मैं जहाँ खड़ी थी वहाँसे कुछ सीढ़ियाँ ऊपर भगवान्‌के मन्दिरको जाती थीं। मैंने ज्यों ही भगवान्‌को नमस्कार करते हुए पहली सीढ़ीपर पैर रखा कि मेरा पाँव फिसल गया। इतनेमें ही वह दृश्य बदल गया। मैंने अपनेको एक विस्तृत समुद्रमें गोते खाते पाया। वहाँ मेरी ही तरह और भी बहुत-से जीव धधकते-उछलते-डूबते दीख रहे थे। मैंने कोई आश्रय पानेके लिये बहुत हाथ-पाँव पटके, परंतु कोई भी सहारा दिखायी न दिया। मैं उससे पार लगानेके लिये बड़े आर्तस्वरसे भगवान्‌से प्रार्थना करने लगी। इतनेहीमें मैंने अपनेको एक चट्टानके ऊपर पाया। वहाँ एक देवी खड़ी हुई थी।'

मुझे देखकर देवीजीने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'सुमति! तुम्हें देखकर मुझे बड़ा आनन्द होता है। तुम भगवान्‌की दयासे ही इस समुद्रसे निकली हो। ऐसे ही बिरले पुरुष होते हैं जो इस चट्टानतक पहुँचते हैं।'

मैं—'देवीजी! सचमुच प्रभुकी मेरे ऊपर असीम कृपा है, इसीसे उन्होंने मेरी प्रार्थना सुनकर मुझे इस समुद्रसे पार लगाया है। कहिये, यह समुद्र कैसा है? अब मैं कहाँ हूँ और यहाँसे मुझे कहाँ जाना होगा?'

देवीजी—'सुमति! यह संसार समुद्र है। सब जीव इसीमें फँसे हुए हैं। इनमें जगह-जगह ऐसे मनमोहक दृश्य आते हैं कि जीव उन्हींके जालमें अटका रह जाता है। तुम जिस टीलेपर खड़ी हो उसे 'संतोष' कहते हैं जो लोग सांसारिक प्रलोभनमें न फँसकर भगवान्‌का आश्रय लेते हैं, वे ही इस संतोषकी चट्टानतक पहुँचते हैं। यहाँतक पहुँचना बहुत कठिन है। जो पहुँच जाते हैं, उन्हें भी तरह-तरहके

विघ्न यहाँसे गिरानेका प्रयत्न करते हैं। इन्द्रियोंके विषय तो यहाँ आनेवालोंके प्रधान शत्रु हैं। वे उसे अनेक प्रकारसे गिराना चाहते हैं। जो पुरुष सावधान रहकर उनके चंगुलमें नहीं फँसता, वह अवश्य परमपद प्राप्त कर लेता है। तुम इनसे सर्वदा बचती रहना। जो पुरुष इन्द्रियद्वारा विषयोंको ग्रहण करते समय उनकी मोहकतामें फँसकर अपने स्वरूपको नहीं भूलता, उसका ये जड विषय कुछ भी अपकार नहीं कर सकते। तुम सावधान और निर्भय होकर अपने मार्गपर बढ़ती जाओ, अभी तुम्हें बहुत दूर जाना है। यहाँसे भिन्न-भिन्न स्थानोंको चार मार्ग जाते हैं। चलो, मैं वे सब मार्ग तुम्हें दिखाये देती हूँ। तुम जिससे चाहो उससे चली जाना।'

इसके पश्चात् दोनों चलकर एक ऐसे स्थानपर पहुँचे जहाँसे पर्वतके चारों ओर मार्ग जाते थे। पहला मार्ग घने जंगल और झाड़ियोंमें आच्छादित था। उसमें बहुत धुँधला प्रकाश था। दूसरा एक अँधेरे कुएँकी ओर जाता था। इसमें भी प्रकाशकी कमी थी; परंतु कुएँमें उतरनेको सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। तीसरे मार्गमें तरह-तरहके फलयुक्त वृक्ष लगे हुए थे। इसमें पहले दो भागोंकी अपेक्षा अधिक प्रकाश था। चौथी ओर एक लाल रंगकी छोटी-सी सड़क बनी हुई थी। उसके दोनों ओर पानी-ही-पानी दिखायी देता था। इस मार्गमें प्रकाशकी अधिकता थी।

ये सब मार्ग दिखाकर देवीजीने पूछा, 'तुम किस मार्गसे जाओगी?'

मैंने कहा, 'मुझे तो पानीवाला मार्ग ही अच्छा जान पड़ता है और मेरी इच्छा इसीसे जानेकी है। किंतु मैं इनके गुण-दोष कुछ नहीं जानती; आप मुझे यह बतानेकी कृपा करें कि ये मार्ग कहाँ-कहाँको जाते हैं और इनसे कौन-कौन लोग जाया करते हैं।'

देवीजी—'इनमें पहला मार्ग तपका है। जो लोग सकाम तप करते हैं वे इस मार्गसे जाते हैं। इसमें अनेक प्रकारके कष्ट उठाने पड़ते हैं। फिर भी परमधामकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि इसमें जानेवाले लोग अपने तपका फल भोगनेके लिये फिर संसारमें ही आते हैं। दूसरा कर्ममार्ग है। जो लोग कामनासहित यज्ञ-हवन आदि कर्म करते हैं, वे इस मार्गसे जाकर अपने कर्मोंका फल भोगनेके बाद फिर संसारगर्तमें ही गिरते हैं। इन लोगोंसे यद्यपि संसारका कुछ उपकार अवश्य होता है, किंतु उनका मन संसारकी चीजोंपर टिका रहता है। वे तरह-तरहके संकल्प-विकल्प किया करते हैं। इसलिये उन्हें कभी शान्ति नहीं मिलती। तीसरा मार्ग निष्काम कर्म और उपासना करनेवालोंका है। यह आनन्दका मार्ग है। निष्काम होनेके कारण इस मार्गमें विषयोंसे शीघ्र ही वैराग्य हो जाता है और ये ज्ञानके अधिकारी हो जाते हैं। इनका सारा समय और धन परोपकार एवं शुभकर्मोंमें लगते हैं तथा इनके चित्तमें भी बड़ी शान्ति, संतोष और आनन्द रहता है। इनके पतनका प्रधान कारण अभिमान है। इसलिये इस मार्गके पथिकोंको अभिमानसे सदा दूर रहना चाहिये। जो इसके चंगुलमें फँसे जाते हैं, वे फिर संसाररूप दलदलमें गिरते हैं।'

मैं—'यह तो तीन मार्गोंका विवरण है। अब चौथे मार्गके विषयमें कहिये।'

देवीजी—'यह अन्तराभ्यासियोंका मार्ग है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जानेके लिये किन्हीं बाह्य साधनोंकी आवश्यकता नहीं होती। जो पुरुष सद्‌गुरुकी शरण ग्रहण कर उनके मुखसे अध्यात्मतत्त्वका श्रवण करता है तथा उसका मनन और निदिध्यासन कर अपनी वृत्तिको सब ओरसे

हटाकर आत्मस्वरूपमें स्थिर कर देता है, वह सहज ही इस मार्गसे चलकर परमपद प्राप्त कर लेता है। यह मार्ग भी कम चक्करदार नहीं है, कई जन्म लग जाते हैं। देखो, तुम सब प्रकारकी घबराहट छोड़कर इसपर बढ़ती चली जाना। भगवान् तुम्हारा मंगल करें।'

'इस मार्गसे जानेमें मुझे किसी प्रकारका भय नहीं है। मुझे तो अन्य मार्गमें ही भय दिखायी देता है। मैं आपकी कृपासे इस मार्गको बिना किसी विघ्न-बाधाके पार करके परमपद प्राप्त कर लूँगी। अच्छा, कृपया यह तो बताइये आप कौन हैं? क्या आप इस मार्गमें मेरे साथ रहेंगी?'

देवीजी—'मेरा नाम श्रद्धा है, मैं तो सभी मार्गोंमें साथ रहती हूँ।'

मैंने श्रद्धादेवीको चरण छूकर प्रणाम किया और उस मार्गसे चलने लगी। मैं जैसे-जैसे उस मार्गपर बढ़ती जाती थी, वैसे-वैसे पानी हटता जाता था और एक सुन्दर लाल सड़क निकली आती थी। जितना आगे जाती थी उतना ही प्रकाश और आनन्द बढ़ता जाता था। उस आनन्दका वर्णन करना मेरी शक्तिके बाहर है। ऐसा कहते-कहते सुमतिके नेत्रोंमें जल भर आया और कण्ठ गद्गद हो गया।

देवीजी—'बेटा! उस अनुभवका कुछ तो वर्णन करो।'

सुमति—'माँ! उस समय मुझे ऐसा अनुभव होता था कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों आनन्दसे पूर्ण हैं। सब ओर आनन्द-ही-आनन्द लबालब भरा है। वृक्ष आनन्दसे झूम रहे हैं। पक्षी आनन्दसे कल्लोल कर रहे हैं; नदियाँ आनन्दसे उमड़कर कलकल गान करती बह रही हैं। समुद्र आनन्दमयी तरंगें उछाल-उछालकर खेल रहा है। थोड़ी ही देरमें यह सब

आनन्द एक परमानन्दमें लीन हो गया और केवल दिव्य प्रकाश ही रह गया। उस अनन्त आनन्दमय प्रकाशमें केवल मैं ही शेष रह गयी। इसी समय किसीने मुझे आवाज दी— 'सुमति! उठो, सबेरा हो गया।' मैं आँखें मलती हुई उठी और झटपट स्नानादिसे निवृत्त होकर आपके पास चली आयी हूँ। माताजी! इस अद्भुत निजानन्दको अनुभव करनेका सौभाग्य मुझे आपहीकी कृपासे प्राप्त हुआ है। अहा! जिस वस्तुके लिये मैं इतनी व्याकुल थी, वह तो स्वयं मैं ही हूँ। साक्षात् आनन्द हूँ—साक्षात् परब्रह्म हूँ।'

देवीजी—'यह आनन्द ही परमात्माका वास्तविक स्वरूप है। जिसे इसका अनुभव हो जाता है, वह सर्वदा आनन्दमग्न रहता है। उसे सारा संसार आनन्दमय दिखायी देता है। जो अनुभवी ज्ञानी पुरुष हैं, वे ही इस रहस्यको जानते हैं, अज्ञानी मूर्खोंको इसका पता नहीं है।'

सुमति—'मैं समझती हूँ शायद विद्वानोंको जल्दी आत्मज्ञान हो जाता होगा।'

देवीजी—ऐसी बात नहीं है। इसके सच्चे अधिकारी तो वे ही हैं, जिनकी विषयोंमें आसक्ति नहीं है। इस संसारमें क्या विद्वान् और क्या अविद्वान्—दोनोंहीकी रुचि संसारके विषय-भोगोंमें देखी जाती है। सब लोग विषयोंको ही सच्चा सुख समझकर उन्हींमें डूबे हुए हैं। किन्तु संसारका सारा सुख क्षणिक और नाशवान् है। यह केवल भोगकालमें ही प्रतीत होता है और अन्तमें दुःखका घर बन जाता है। जो विचारहीन प्राणी विषय-भोगोंमें फँसे रहते हैं, वे दुःखी ही देखे जाते हैं और सबसे दुःखकी बात तो यह है कि विषय-भोगमें डूबे हुए जीवोंको कितनी ही विषय-भोगोंकी असारता दिखाओ, वे कुछ समझ ही नहीं सकते।

'सुमति! ये विचारहीन पुरुष तो विषय-जाल बिछाकर स्वयं अपने दुःखका बीज बोते ही हैं, इनसे भिन्न जो विचारवान् कहलानेवाले हैं, वे भी विषयोंमें फँसे ही दिखायी देते हैं। यद्यपि वे अच्छी तरह जानते हैं कि मनुष्य-जन्म केवल विषय-भोगोंके लिये नहीं है, इसमें तो जीवको कोई उत्तम वस्तु लाभ करनी चाहिये। खानपान, मैथुन एवं स्त्री-पुत्रादि तो पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं। यदि मनुष्य-जन्म भी इन्हींके संग्रहमें बीत गया तो उसका लाभ ही क्या हुआ, ये सब बातें जानते हुए भी वे किसी-न-किसी सांसारिक पदार्थकी प्राप्तिके लिये ही व्यग्र देखे जाते हैं; किंतु धन्य तो वे हैं जो इस मानवदेहसे परमतत्त्वका साक्षात्कार करके आनन्दमग्न हो गये हैं; क्योंकि संसारमें तो दुःखके सिवा कहीं भी सच्चा सुख दिखायी नहीं देता।'

सुमति—'माताजी! पहले बहुत दिनोंतक मेरी भी ऐसी ही दशा रही है। मैं संसारमें इतना दुःख उठानेपर भी बार-बार सांसारिक भोगोंकी ही इच्छा किया करती थी। रात-दिन संसारके विषय-भोगोंके ही स्वप्न देखा करती थी। साथ ही श्रीभगवान्से ऐसी प्रार्थना किया करती थी कि हे भगवन्! हे विश्वेश्वर! मुझे संसारके दुःखसे छुड़ाइये। यदि अभी आप इस शरीरको कुछ अधिक दिन रखना चाहते हैं तो कृपाकर मुझे उस परमपदकी अधिकारिणी बनाइये, जहाँसे लौटकर फिर इस जन्म-मरणके चक्रमें नहीं आना पड़ता। मुझे किन्हीं ऐसी विदुषी देवीके दर्शन कराइये, जिन्हें मैं अपनी जीवन-नौकाकी कर्णधार बना सकूँ।'

सुमतिकी ये बातें सुनकर देवीजीने हँसते हुए कहा, 'क्यों बेटा! तुम किसी स्त्रीकी ही खोज क्यों करती थी? क्या तुम स्त्री और पुरुषके शरीरमें कुछ भेद-भाव रखती हो?'

सुमति—'हाँ माताजी! एक बार मैंने ऐसी प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं किन्हीं देवीको ही अपनी गुरु बनाऊँगी।'

देवीजी—'तुमने ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की थी?'

सुमति—'पतिदेवका शरीर छूटनेके पश्चात् पुरुष-शरीरमें मुझे घृणाबुद्धि हो गयी थी। इसके सिवा कुछ और भी ऐसे कारण थे, जिनसे कि मैं किसी पुरुषको अपना गुरु नहीं बनाना चाहती थी। वैसे भी स्त्रियोंके लिये और विशेषतया हम विधवाओंके लिये पुरुष-शरीरका संसर्ग खतरेसे खाली नहीं है। गुरुको तो अपना तन, मन, धन सभी अर्पण कर दिया जाता है; क्योंकि वह शिष्यको इस संसार-सागरसे निकालकर परमपदका अधिकारी बना देता है। इसलिये मैं इतना घनिष्ठ सम्बन्ध किसी स्त्री-शरीरसे जोड़ना चाहती थी।'

सुमतिकी ऐसा निष्कपट और प्रेमपूर्ण बातें सुनकर देवीजीने कहा, 'सुमति तुम्हारा कथन बहुत युक्तियुक्त है। तुम्हारा शुद्ध चित्त मुझे अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। पुत्रि! यद्यपि लोकदृष्टिसे तुम्हारा कथन बहुत ठीक है, तथापि परमार्थतः तुम्हें स्त्री और पुरुष-शरीरमें कोई भेद-भाव नहीं रखना चाहिये। सभी जीवोंमें भगवद्दृष्टि रखनी चाहिये।'

सुमति—'माताजी! अब आप ही ऐसी कृपा कीजिये, जिससे मेरी भेददृष्टि नष्ट हो जाय और मैं सर्वत्र भगवद्दृष्टि रखकर निर्भय हो जाऊँ। मेरी चित्तवृत्ति लोक-व्यवहारसे निकलकर आत्मानन्दमें लीन हो जाय और मैं निरन्तर परमानन्दमें मग्न रहूँ। आपके उपदेशसे यह बात तो मेरी समझमें खूब बैठ गयी है कि सुख केवल आत्मानुभवसे ही हो सकता है। आप कृपा करके मुझे आत्मतत्त्वका बोध कराइये, जिससे कि फिर और कुछ भी जानना शेष न रहे। आपके और बहिन शान्तिदेवीके वचनामृतसे

मुझे बड़ी शान्ति मिली है। अब भी मेरा चित्त उसी अमृतपानके लिये लालायित है। आप मुझे बतलाइये, मैं कौन हूँ? आप कौन हैं? और वह चेतनतत्त्व क्या है?'

देवीजी—'सुमति! मैं तुम्हें संक्षेपमें यह विषय समझाती हूँ। इसका जितना मनन करोगी उतना ही रहस्य खुलेगा। एक ही चेतनतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। तुम जो देखती, सुनती, स्पर्श करती और रस ग्रहण करती हो वह सब चेतनकी ही सत्तासे है। तुम, मैं और यह सम्पूर्ण संसार भी चिद्रूप ही है। बस, यही सब शास्त्रोंका सार है। यदि तुम इसका पुनः-पुनः मनन कर सकोगी तो तुम्हारी बुद्धि निर्मल हो जायगी। फिर इस निर्मल बुद्धिसे तुम अपने स्वरूपका साक्षात्कार करके पूर्णानन्दका अनुभव कर सकोगी। इस तत्त्वका अनुभव हो जानेपर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

'किन्तु यदि तुम इस मोहनिद्रासे नहीं जागोगी तो हमारा सब उपदेश वृथा होगा। इस चेतनतत्त्वका जबतक अन्तःकरणसे सम्पर्क रहता है तबतक ही जीवका बन्धन है। चेतनका बोध हो जानेपर तो चित्त भी चिद्रूप हो जाता है। यही जीवकी मुक्ति है।

'एक बात याद रखो, आत्मतत्त्व या चेतनतत्त्व चित्तकी कल्पनाओंसे सर्वथा पृथक् है। चित्त सम्पूर्ण लौकिक और अलौकिक कल्पनाओंसे ऊपर उठकर ही उसका साक्षात्कार कर सकता है। इसके लिये तुम्हें तीन बातोंपर विशेषरूपसे ध्यान रखना चाहिये—(१) हर समय परमार्थतत्त्वका विचार करो, (२) स्वभावतः जो कुछ मिल जाय उसीसे जीवन-निर्वाह करो तथा (३) लोभ और मोहमें फँसकर किसी भी वस्तुकी इच्छा मत करो। यदि तुम शुद्ध बुद्धिसे विचार करती रहोगी तो तुम्हें अवश्य अपने स्वरूपका अनुभव हो जायगा। एक बात और भी

ध्यानमें रखना। जबतक देह है तबतक सब कार्य धर्मपूर्वक करती रहना तथा चित्तको सब ओरसे उपराम रखना।'

सुमति! 'यह परमतत्त्व सर्वत्र समानरूपसे व्याप्त है।'

बीजमें जिमि वृक्ष है, पर प्रकट दिखलाता नहीं।
है इसी बिधि ब्रह्म व्यापक, किन्तु दरसाता नहीं॥

'देखो, बीजमें वृक्षके फूल, पत्ते और शाखा आदि सभी अवयव रहते हैं; किंतु जबतक उसका उपजाऊ भूमिसे संसर्ग नहीं होता तबतक ये सब दिखायी नहीं देते। उसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी स्थूलबुद्धि-पुरुषोंको परमतत्त्व परमात्माका अनुभव नहीं होता, किंतु आत्मज्ञानी उसका अनुभव करके सदा आनन्दमग्न रहा करते हैं। भगवान् तो सभी जगह व्याप्त हैं। जैसे तिलोंमें तैल, दुग्धमें घृत और मेहँदीमें लाली भरी रहती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण चराचर जगत्‌में भगवान्‌की सत्ता है; किंतु जबतक तिलोंको पेरा नहीं जाता तबतक तैलकी प्राप्ति नहीं होती, बिना मन्थन किये दूधसे घृत नहीं निकलता तथा पीसकर हाथ-पाँव आदिमें लगाये बिना मेहँदीकी लाली नहीं खिलती, उसी प्रकार बिना साधनमें तत्पर हुए भगवान्‌की उपलब्धि नहीं होती। जो उन सच्चिदानन्दघन प्रभुका अनुभव करता है, वह तो तद्रूप ही हो जाता है। ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टि आकारोंसे हट जाती है, इसलिये वह सर्वत्र ब्रह्मका ही दर्शन करता है।

देवीजीका यह सदुपदेश सुनकर सुमतिको बड़ा आनन्द हुआ और वह हाथ जोड़कर गद्‌गदकण्ठसे इस प्रकार प्रार्थना करने लगी—'हे प्रभो! हे दीनबन्धो! हे करुणासागर! दया करो, दया करो। मेरे हृदयसे द्वैतदृष्टि निकालकर अपने स्वरूपमें ही मिला लो, प्रभो! मैं जबसे आपसे अलग हुई हूँ तभीसे मेरा नाम जीव पड़ा है। अब ऐसी कृपा करो जिससे 'तू' और 'मैं' का भेद

न रहे। मैं आपसे मिलकर इस प्रकार एक हो जाऊँ जैसे दूधसे मिलकर पानी। मिला लो, मिला लो प्रभो! अपने निज रूपमें, अब इस भव-बन्धन और जन्म-मरणके चक्रसे मुझे मुक्त कर दो। भगवन्! सदासे ही मैं आपकी ही हूँ और आप मेरे हैं। अहा! आनन्द! आनन्द!! आनन्द!! सर्व आनन्द-ही-आनन्द भरा हुआ है। भीतर-बाहर केवल आनन्द-ही-आनन्द है। जय सच्चिदानन्द! जय सच्चिदानन्द!! जय सच्चिदानन्द!!!' इस प्रकार प्रेमावेशमें भरकर सुमतिके नेत्रोंसे झर-झर आँसू गिरने लगे। उसकी ऐसी दशा देखकर देवीजीने उसे हाथ पकड़कर उठाया और कहा, 'बेटा! चलो, तुम्हें बोध-वाटिकाकी सैर करा दें।'

सुमतिने कहा, 'माताजी! आपके वचनामृतोंसे मुझे बड़ा आनन्द हुआ है। उस बोध-वाटिकामें जानेसे इस आनन्दमें अन्तर तो नहीं आवेगा?'

देवीजी—'उसका तो नाम ही बोध-वाटिका है। बोध होनेपर तो फिर कोई भी विषयिक आनन्द अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। फिर तो तुम सारे व्यापार करते हुए भी ब्रह्मानन्दमें ही मग्न रहोगी।'

सुमति—'तब तो माताजी! मुझे अवश्य उस दिव्य वाटिकाकी सैर कराइये।'

इसके पश्चात् वे दोनों उठकर चल दीं।

बोध-वाटिका

सुमति देवीजीके साथ-साथ जा रही थी। उसे सम्बोधन करके देवीजीने कहा—'सुमति! तुम मेरे साथ चली आओ। मैं तुम्हें जो कुछ बताऊँगी उसे ध्यानसे सुनकर मनन करो। यदि तुम मेरे कथनपर ध्यान रखोगी तो सब प्रकार कार्य करते हुए भी अपने स्वरूपमें स्थित रहोगी और संसारके प्रत्येक पदार्थसे उपदेश ग्रहण कर सकोगी। यदि हमारी विवेकवृत्ति जाग्रत् हो जाय तो संसार ही हमारा सच्चा गुरु हो जाता है। देखो, यह संसार चक्रव्यूहके समान है। जो इसमें घुसना चाहे उसे इसमेंसे निकलनेकी युक्ति पहले जान लेनी चाहिये। यदि उसे जाने बिना प्रवेश करोगी तो अभिमन्युके समान उसीमें घिरकर धोखेसे मारी जाओगी।

× × ×

इस रास्तेमें ठोकरें बहुत हैं, सँभलकर पैर रखना। यदि कहीं भी ठोकर लग गयी तो मनुष्य-जीवनसे भी हाथ धो बैठोगी।

× × ×

यह संसार एक अजायबघर है। तुम इसे देखकर ललचाना मत। यहाँकी सारी वस्तुएँ सरकारी हैं। तुम केवल उनकी द्रष्टा बनी रहो।

× × ×

यदि मन ललचावे तो उसकी बात मत सुनो। यह मन तो तुम्हारा नौकर है। उसे तुम अपना स्वामी मत समझो।

× × ×

तुम ऐसा मत समझो कि मेरे सांसारिक सम्बन्धी मुझसे

बहुत प्रेम करते हैं। यह प्रेम तो बरसाती नालेके समान है, जो कभी तो स्वार्थके कारण उमड़ने लगता है और कभी ढूँढ़े भी नहीं मिलता, फिर तो प्रेमरूप जलकी जगह दु:खरूप बालू ही रह जाता है।

× × ×

यदि कहो कि वह आनन्दरूप जल कहाँ है? तो याद रखो वह सुखका स्रोत तुम्हारे अन्त:करणमें ही बह रहा है। यदि तुम मोहको छोड़कर उस स्रोतकी खोज करोगी तो सदाके लिये सुखी हो जाओगी।

× × ×

यदि शान्ति चाहती हो तो चार घंटे मौन रहकर परमात्माका चिन्तन कर लो।

× × ×

लोग भले ही तुम्हें मूर्ख समझें तथापि तुम बिना पूछे हर्गिज किसीको कोई सलाह मत दो। हाँ, यदि तुमसे कोई पूछे तो अवश्य जैसा तुम उचित समझो, अपना विचार प्रकट कर दो। सम्भव है, उससे किसीका कुछ हित हो जाय।

× × ×

किसी प्रसंगमें कोई व्यर्थ बात कहनेसे पीछे पछताना पड़ता है, इसलिये सोच-विचारकर बोलो।

× × ×

ऐसी बोली बोलनेका अभ्यास करो जिससे प्रेमकी वृद्धि हो और द्वेषरूप अग्नि शान्त हो जाय।

× × ×

यदि तुम दूसरोंके दोष देखने छोड़ दोगी तो अवश्य तुम्हारा अन्त:करण निर्मल हो जायगा।

× × ×

तुम अपने दोष और दूसरोंके गुण देखनेवाली बन जाओ तो फिर भगवान्‌के मिलनेमें देरी नहीं लगेगी।

× × ×

जब अपनी बुराइयोंकी ओर दृष्टि जाने लगती है तो मनकी मैल साफ होने लगती है, फिर जैसे-जैसे मनकी मैल साफ होने लगती है, वैसे-वैसे ही अपना रूप दिखायी देने लगता है।

× × ×

जीव नाना प्रकारकी इच्छाओंके कारण ही जन्म-मरणके चक्करमें पड़ गया है। यदि मन सांसारिक भोगोंकी ओरसे मर जायगा तो जन्म-मरणका चक्कर भी समाप्त हो जायगा। यदि इन भोगोंकी ओरसे चित्त ऊब जाय और परम सुखकी इच्छा जाग्रत् हो जाय तो फिर कल्याण होनेमें देरी नहीं लगती।

× × ×

जब तराजूके दोनों पलड़े बराबर आ जाते हैं तो तौलका काम समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार जो पुरुष व्यवहार और परमार्थको बराबर निभाता है, उसका काम समाप्त हो जाता है। लोकमें ठीक तौलनेवाला सच्चा आदमी कहा जाता है और सुखी भी रहता है। उसी प्रकार परमार्थ और व्यवहारको यथावत् निभानेवाला सत्पुरुष कहलाता है तथा वह स्वयं सुखी रहता है और दूसरोंको भी सुख पहुँचाता है।

× × ×

जब सोना तौलते हैं तो तराजूके बीचके काँटेपर दृष्टि जमाते हैं। इसी प्रकार यदि जिज्ञासु समस्त लौकिक एवं पारलौकिक कर्तव्योंकी पूर्ति करते समय अपनी मनोवृत्तिको एकाग्र रखे तो उसे आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है।

× × ×

यदि तुम शुद्ध और सुखी जीवन व्यतीत करना चाहती हो तो आजसे सारे व्यसनोंको छोड़कर केवल भगवान्‌की शरण लो।

× × ×

भगवान्‌के सभी नाम कल्याणकारी हैं, किन्तु आवश्यकता है उनका प्रेम और श्रद्धापूर्वक जप करनेकी।

× × ×

यदि पुरुष मनसहित इन्द्रियोंको भोगोंसे हटाकर सब प्रकारकी इच्छाएँ छोड़कर स्वभावतः प्राप्त भोगोंको आसक्तिरहित होकर भोगे तो उसे संयमी ही कहा जायगा।

× × ×

यदि गर्मी-सर्दी, हानि-लाभ, जीवन-मरण—इन सब द्वन्द्वोंमें समान भाव रहने लगे तो संयमकी पूर्णता समझनी चाहिये।

× × ×

तुम्हें कितने ही कष्टोंका सामना करना पड़े, किंतु यदि तुम उन्हें शान्तचित्तसे सहन कर लेती हो तो तुम सन्तोषरूप धन प्राप्त कर सकती हो।

× × ×

मौन रहनेसे बड़ा लाभ है। ऐसा करनेसे मनुष्य बहुत-सी बुराइयोंसे बच जाता है। मौनके साथ भगवन्नाम जपनेसे बड़ा हित हो सकता है।

× × ×

सम, सन्तोष, विचार और सत्संग—ये चारों मोक्षके द्वारपाल हैं। यदि इनमेंसे किसी एकका भी सहारा ले लिया जाय तो धीरे-धीरे चारोंहीसे मेल हो जायगा। फिर मुक्ति होनेमें कुछ भी विलम्ब न लगेगा।

ज्ञानकी सात भूमिकाएँ

देवीजीका उपदेश सुनकर सुमतिको बड़ा आनन्द हुआ। उसने पूछा, 'माताजी! मैंने सुना है, ज्ञानकी सात भूमिकाएँ होती हैं, तो उनका क्या स्वरूप है। कृपया विस्तारसे सुनाइये।'

देवीजीने सुमतिकी ओर प्रेमभरी दृष्टिसे देखकर कहा, 'सुमति! तुम धन्य हो! जो अध्यात्मविद्याकी प्राप्तिमें ऐसी रुचि रखती हो। वास्तवमें इस विद्याको पाकर ही पुरुष परमसुख प्राप्त कर सकता है। जिन लोगोंकी सांसारिक भोगोंमें आसक्ति होती है , उन्हें कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। तुम विषय-भोगोंमें ध्यान न देकर इस चित्तको अचित्त बना दो और अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें स्थित रहो। इष्ट या अनिष्टकी प्राप्तिमें मनको समतामें स्थित रखो। इस पुरुषार्थसे तुम संसार-सागरको पार करके परमपद प्राप्त कर लोगी। यदि विचार करके देखें तो विषयोंमें न सुख है न दुःख। चित्तके शान्त होनेसे सुख होता है और चंचल होनेसे दुःख। इसीसे इष्ट पदार्थ सुखका तथा अनिष्ट पदार्थ दुःखका कारण होता है। जिसने विचारद्वारा सुख-दुःखके इस स्वरूपका निर्णय कर लिया है, उसके सारे दुःखोंका अन्त हो जाता है। उसे अपने अन्त:करणमें जिस अलौकिक आनन्दका अनुभव होता है, उसकी उपमा संसारके किसी भी सुखसे नहीं दी जा सकती। जिसने इस त्रिलोकीके विस्तारके प्रयोजनको समझ लिया है, वह सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता। अच्छा, अब मैं तुम्हें ज्ञानकी सात भूमिकाओंका क्रम सुनाती हूँ।'

'संसारमें दो प्रकारके मनुष्य हैं—प्रवृत्तिपरायण और निवृत्तिपरायण। जिन लोगोंको लौकिक और पारलौकिक भोगोंकी ही कामना रहती है, वे प्रवृत्तिपरायण कहे जाते हैं। इनका चरम लक्ष्य स्वर्ग-सुखकी प्राप्ति है। अत: उसकी प्राप्तिके लिये ये नाना प्रकारके सकाम कर्म

किया करते हैं। जिस प्रकार गंदे नालेमें रहनेवाला कीड़ा उस गंदगीमें ही मस्त रहता है, उसी प्रकार ये लोग सांसारिक सुखोंमें ही मग्न रहते हैं। किंतु यदि दैववश उस कीड़ेको मीठा जल मिल जाय तो उसका अमृतके समान स्वाद ग्रहण करके फिर वह नालेके जलकी ओर नहीं देखता, वैसे ही अनेकों जन्मोंके पुण्यसे जब इस पुरुषको ऐसा विवेक होता है कि इस निःसंसारसे मुझे क्या लेना है, मैं जन्म-जन्मान्तरमें व्यर्थ ही इस कर्म-कलापमें भटकता रहा हूँ; अब इसे छोड़कर परमशान्तिकी खोज करूँ तो वह निवृत्तिका आश्रय लेता है। उसका प्रधान लक्ष्य यही रहता है कि किसी प्रकार भोगोंसे वैराग्य हो जाय और इस संसार-सागरसे पार हो जाऊँ। रात-दिन ऐसा ही विचार रहनेसे उसे भोगोंसे वैराग्य हो जाता है और शुभकर्मोंमें प्रवृत्ति हो जाती है। सांसारिक पुरुषोंके प्रति उसकी उदासीनता हो जाती है, किन्तु वह किसीका निरादर नहीं करता। वह सर्वदा मीठी बोली बोलता है, किसीके भी चित्तको नहीं दुखाता तथा उसका स्वभाव बड़ा प्रेमपूर्ण होता है। सबकी सेवामें वह तत्पर रहता है। सेवा करनेमें उसका कोई स्वार्थ नहीं होता। इसे 'शुभेच्छा' नामकी प्रथम भूमिका समझनी चाहिये। इस अवस्थामें उसके चित्तमें संसार-सागरको पार करनेकी इच्छाका प्राधान्य रहता है और इसी उद्देश्यसे वह धर्मके अच्छे-अच्छे ग्रन्थोंको पढ़ता, मनन करता और सत्संगमें तत्पर रहता है।

'इस प्रकार जिसे संसार-सागरसे पार होनेकी इच्छा हुई है, वह सब प्रकारके व्यवहार करते समय भी उससे मुक्त होनेकी ही युक्ति सोचता रहता है। उसके चित्तमें संसारके समस्त पदार्थोंकी अनित्यता और दुःखरूपताका बोध जाग्रत् हो जाता है तथा जो कार्य उनकी आसक्ति पैदा करनेवाले होते हैं, उनसे वह सर्वदा दूर रहता है। इस समय वह विशेषतया आत्मतत्त्वके श्रवण और मननमें ही तत्पर

रहता है। यही 'विचारणा' नामकी दूसरी भूमिका है। इसमें जिज्ञासाकी प्रबलता रहती है।'

'विचारणाके अभ्याससे जब चित्त बहुत सूक्ष्म हो जाता है, आत्मतत्त्वविषयक शंकाओंका अभाव-सा हो जाता है तथा विषयोंकी ओरसे चित्तमें स्वभावत: ही वैराग्य हो जाता है, उस समय 'तनुमानसा' नामकी तीसरी भूमिका समझना चाहिये। वह निदिध्यासनरूपा है। इस समय चित्त निवृत्तिमें ही विशेष सुख अनुभव करता है, व्यावहारिक जीवन असह्य हो जाता है तथा निरन्तर एकान्त सेवनमें ही सुख जान पड़ता है। इस प्रकार ऊपरसे शान्तमय जीवन रहनेपर भी चित्तमें कुछ असंतोष और अशान्ति-सी जान पड़ती है। आत्माकी पूर्णताका निश्चय रहनेपर भी उनका अपरोक्ष अनुभव नहीं होता, इसलिये चित्तमें कुछ व्याकुलता बनी रहती है।'

'चौथी भूमिका 'सत्त्वापत्ति' है। इस स्थितिके प्राप्त होनेपर साधककी अपनी प्राप्तव्य वस्तु मिल जाती है और उसके चित्तमें किसी प्रकारकी शंका नहीं रहती। चित्तसे द्वैतभाव निकल जानेके कारण सर्वत्र समदृष्टि हो जाती है और संसार स्वप्नवत् जान पड़ता है। पहली तीन भूमिकाएँ जिज्ञासुकी हैं। इस भूमिकामें पहुँचनेपर आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह भूमिका सविकल्पसमाधिरूपा है, आगेकी तीन भूमिकाओंमें उत्तरोत्तर निर्विकल्पता बढ़ती जाती हैं।'

'पाँचवीं भूमिका 'असंसक्ति' है। इस अवस्थामें स्वभावत: ही सर्वत्र अनासक्ति हो जाती है तथा विशेषत: अन्तर्मुखी वृत्ति रहती है। समय-समयपर सुषुप्तिकी तरह संसारकी प्रतीति भी नहीं होती।'

'इस भूमिकाकी दृढ़ता होनेपर 'पदार्थाभाविनी' नामकी छठी भूमिका प्राप्त होती है। इसमें बाह्य दृष्टिका प्राय: अभाव हो जाता है। किसी बाह्य प्रबल प्रयत्नसे ही उसका उत्थान हो सकता है। भोजनादि आवश्यक कार्य भी दूसरोंकी प्रेरणासे ही होते हैं।'

'इसके आगे 'तुर्यगा' नामकी सातवीं भूमिका है। इस अवस्थामें पहुँचनेपर योगी सर्वदा निर्विकल्प अवस्थामें रहता है। किसी प्रकारका बाह्य प्रयत्न भी उसे च्युत करनेमें समर्थ नहीं होता और वह निर्वाणरूप हो जाता है। यही जीवन्मुक्तिकी पराकाष्ठा है।'

'सुमति! इस प्रकार योगवासिष्ठके निर्वाण-प्रकरणमें जो सात भूमिकाओंका वर्णन किया गया है, उसके अनुसार मैंने संक्षेपमें तुम्हें सुना दिया। इनमें पहली तीन भूमिकाएँ जाग्रद्रूपा, चौथी भूमिका स्वप्नरूपा, पाँचवीं सुषुप्तिरूपा, छठी तुरीया और सातवीं तुरीयातीतरूपा मानी गयी हैं। पीछेकी चार भूमिकाओंके अनुसार ज्ञानीकी क्रमशः ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ—ये चार संज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं। इनमें ज्ञान तो समान ही है, केवल निष्ठाका तारतम्य रहता है। वास्तवमें तो यह भूमिकाभेद व्यावहारिक दृष्टिसे ही है, ज्ञानदृष्टिमें तो ज्ञानी और अज्ञानीका ही भेद नहीं है; फिर भूमिकाओंकी तो बात ही क्या है? सुमति! उस अद्भुत ज्ञानदृष्टिको पाना ही मनुष्य-जन्मका चरम लक्ष्य है।'

'इस प्रकार जो महर्षियोंका ध्रुव सिद्धान्त है, उसका वर्णन किया गया। मानव-जन्मकी सफलता इस परमपदको प्राप्त करनेमें ही है। सारे साधनोंका एकमात्र साध्य भी यही है, इसलिये तुम्हें भी कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये। अब कुछ अन्तिम शब्द कहकर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूँगी।

'सुमति! यह शरीर एक जंगल है। इसमें इच्छारूप हथिनी रहती है। यह बड़ी पेटू है। हर समय किसी-न-किसी चीजके लिये लालायित रहती है। इन्द्रियाँ इस हथिनीके बच्चे हैं। शुभ और अशुभ कर्म इसके दाँत हैं और वासनाएँ मद हैं। इस मदमाती हथिनीने जीवरूप हाथीको नाच नचा रखा है। जो शुद्ध संकल्पवान् होता है, वही इस संसार-समरांगणमें विजय प्राप्त कर सकता है। अशुद्ध

संकल्पवान् तो अकालमें ही कालग्रस्त हो जाता है। जिसे शान्तिकी इच्छा हो उसे दृढ़तारूपी तलवार लेकर इस हथिनीका वध कर डालना चाहिये। जबतक यह जीवित है तबतक किसीको भी शान्ति नहीं मिल सकती। वस्तुतः इससे मुक्त होना ही संसारसे मुक्त होना है। बस, इच्छा ही परमार्थ-पथका सबसे बड़ा प्रतिबन्धक है। इसके रहते हुए न तो चित्त शुद्ध हो सकता है और न गुरु एवं शास्त्रके उपदेशमें ही श्रद्धा हो सकती है; अतः इच्छाको निर्मूल कर देना प्रत्येक कल्याणकारीका प्रथम कर्तव्य है।'

'सुमति! तुम्हें जो कुछ सुनना था वह मैंने सुना दिया। अब तुम इसका मनन करके इसीके अनुसार आचरण करो। यदि तुम सब प्रकारकी वासनाएँ छोड़कर निरन्तर भगवद्भजन करोगी तो यावज्जीवन परमानन्दमें मग्न रहकर अन्तमें परमपद प्राप्त करोगी।'

देवीजीके इस उपदेशसे सुमतिके सारे सन्देह दूर हो गये। कुछ क्षणके लिये उसकी वृत्ति आत्मतत्त्वमें स्थिर हो गयी। उससे उत्थान होनेपर उसने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और उनकी आज्ञा पाकर अपने घर चली आयी, तबसे वह निरन्तर निःसंग-भावसे घरके सब काम करती रही। उसके सारे दुःखोंका सर्वथा अभाव हो गया। उसकी उस विलक्षण स्थितिसे उसके परिवारपर भी बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। सब लोग उसे बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते थे तथा उसकी इच्छाके अनुसार ही घरकी सारी व्यवस्था होती थी। पिताजीने तो पहलेसे ही घरका सारा भार सुमतिको ही सौंप रखा था। घरके सभी छोटे-बड़े—उसीके इशारेपर चलते थे। सुमतिका अनुसरण करनेके कारण उनमें किसी प्रकारका मनोमालिन्य या अशान्ति नहीं होती थी। उसकी शान्तिमयी छत्रछायामें यह परिवार स्वर्गीय सुखका उपभोग करता था और दूसरे परिवारोंके लिये भी आदर्शरूप बना हुआ था।

इन्द्रियोंसे परे है, किसीसे पकड़ा नहीं जाता। वह असंग है, इसलिये कभी आसक्त नहीं होता। वह बन्धनरहित है, इसलिये दु:खी नहीं होता, तब बताओ, सबके अन्तरात्मा और सबको जाननेवाले उस आत्माको किस प्रकार जाने इसीसे श्रुतिने उसे 'नेति-नेति' कहकर वर्णन किया है, क्योंकि वह अनिर्वचनीय है, जिह्वा उसे खोलकर नहीं बता सकती। बस, मैत्रेयि! तेरे लिये यही उपदेश है। इसीको 'मोक्ष' कहते हैं।

इसके पश्चात् देवीजीने कहा, 'सुमति! मनुष्यका प्रधान कर्तव्य आत्माको जानना ही है। स्त्री हो अथवा पुरुष, सभीको उचित है कि शास्त्र-आज्ञाका पालन करते हुए अपने जीवनको आनन्दमय बना ले। तुम वास्तवमें तो शुद्ध-चेतन आत्मा ही हो; 'मेरा-मेरा' ऐसा अभिमान करके अपने स्वरूपको भूल गयी हो। अब मोहनिद्राको त्यागकर उस आनन्दस्वरूपमें डुबकी लगाओ। तुम जिन-जिन चीजोंको 'मेरा-मेरा' कहती हो, वे सब तो तुमसे अलग हैं। तुम उन सबकी साक्षी हो।' इसके पश्चात् वे एक पद गाने लगीं—

क्यों भूला नादान रूपको, क्यों भूला नादान।
नामरूपका भेद मिटाकर, निजस्वरूपको जान॥ टेक ॥
बेटा मेरा, नाती मेरा, हूँ मैं चतुर सुजान।
मेरा-मेरा करता डोले, छाया अति अज्ञान॥ १॥
मेरा तन मेरा धन मेरा है जगमें अति मान।
मेरा-मेरामें भूला रे महामूढ़ अज्ञान॥ २॥
तू तो इन सबका ज्ञाता है—है प्रत्यक्ष प्रमाण।
जो 'मेरा-मेरा' कहता है उस अपनेको जान॥ ३॥
ये सब तो तेरे हैं भाई, तू आपेको जान।
सच्चा ज्ञान यही है प्यारे अपनेको पहचान॥ ४॥

इनका सब प्रकार सदुपयोग किया जाय तो ये सारे दुःखोंसे निकालकर भगवान्‌की प्राप्ति करा सकती हैं। लोग दुनियाके सुखोंमें फँसकर व्यर्थ अपना जीवन नष्ट करते हैं। शरीरके सुख-दुःखसे हमें घबड़ाना नहीं चाहिये; क्योंकि उनसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। इनकी पहुँच केवल अन्तःकरणतक ही है। आत्मा तो इन सबसे अलग शुद्ध साक्षीमात्र है। शरीर और अन्तःकरणादि तो बनते और बिगड़ते रहते हैं; किंतु आत्मा नित्य निर्विकार एवं एकरस है। इसपर सुख-दुःखादिका कोई असर कैसे हो सकता है?

मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो मुझे देवीका दर्शन हुआ। उन्होंने मेरे हृदयसे अज्ञानका पर्दा हटा दिया है। पहले मैं सांसारिक भोगोंमें ही सुख मानती थी, फिर मैं उन्हें दुःखरूप समझने लगी; किंतु आज मैंने जाना कि सुख और दुःखका बीज तो मेरे ही भीतर है। वास्तवमें आत्मा ही सुखरूप है। हमारी इच्छाएँ ही दुःखका कारण हैं। यदि हम इच्छाओंके जालको काट डालें तो बस, आनन्द-ही-आनन्द है। जबतक मुझे इस बातका बोध नहीं था, मैं आत्माको ही कर्ता-भोक्ता एवं सुखी-दुःखी समझती थी। अब मोह नष्ट होनेपर मालूम हुआ कि अहंकारके कारण ही हमें इनका भार ढोना पड़ा; क्योंकि अज्ञानके कारण ही मनुष्य इस शरीरको ही आत्मा समझ बैठता है और शरीरके पीछे रात-दिन तबाह रहता है। जब इस भ्रमका नाश हो जाता है तो सारा संसार एक इन्द्रजाल-सा जान पड़ता है, अब मैं अपनेको सुख-दुःखादिसे अलग समझकर उनसे घबड़ाऊँगी नहीं । ये इन्द्रियाँ भले ही अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त हुआ करें, मुझे इससे क्या हानि-लाभ हो सकता है? मैं तो अपने स्वरूपमें ही स्थित रहनेका प्रयत्न करूँगी।

अहा! भगवान्‌की कैसी कृपा है। आज मेरा जीवन धन्य